खम्मा अन्नदाता

[राजाओं के व्यक्तिगत जीवन पर आधारित उपन्यास]

उपन्यासकार

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई सड़क : दिल्ली

प्रथम संस्करण
जनवरी, १९५८

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल, दिल्ली

मैं इतना ही कहूँगा—

'खम्मा अन्नदाता' मेरा नया उपन्यास है।

इसका कथानक मुख्यत: राजाओं के उस पक्ष से सम्बन्धित है, जिसे आज तक ओझल रखा गया है, जिसे हमारी कोटि-कोटि जनता जानती नहीं। पिता-सदृश पूजे जाने वाले इन राजाओं का वास्तविक रूप क्या है, यही इस उपन्यास में बताने का प्रयास किया गया है। फिर भी मैं इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि मेरा किसी व्यक्ति-विशेष पर आक्षेप करने का ध्येय नहीं है, केवल सामूहिक घटनाओं को एक सूत्र में बाँधा गया है।

इस उपन्यास के प्रकाशन पर मैं साथी रामसरन शर्मा "मुन्शी" और "सच्चिदा" का अत्यन्त आभारी हूँ; और कृतज्ञ हूँ, ओमप्रकाश शर्मा का जिन्होंने इसे सुना और अपने नये सुझाव दिए।

पाठक ही मेरे सच्चे आलोचक है, उनकी सम्मति की मैं प्रतीक्षा करूँगा।

माले की होली }
बीकानेर }

—यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

प्रिय शांति 'भट्टाचार्य' को सप्रेम

—'चन्द्र'

क्या करूँ ?

"क्या करूँ ?" एक जलता हुआ प्रश्न मेरे सम्मुख हर घड़ी खड़ा रहता है। रात के गहरे अन्धेरे में और दिन के तेज प्रकाश में यह प्रश्न मेरे दिमाग से पल भर के लिए भी नहीं हटता। पर हाँ, मेरी सहधर्मिणी (अर्थात् भूतपूर्व मेरी रियासत की महाराणी सा) जब मुझे अपनी मधुर आवाज से 'डिअर' कह पुकारती है तब मेरे मस्तिष्क में प्यार का तूफान-सा उठता है। और मैं रानी के सुन्दर मुख और माँसल शरीर के अलबेलेपन में खो जाता हूँ। तब मैं क्षण भर के लिए यह भूल जाता हूँ कि मैं क्या करूँ ?

यह प्रश्न मेरे पूर्वजों के सम्मुख नहीं था। क्योंकि वे मेरी तरह नाम-मात्र के राजा नहीं थे। नाम-मात्र से मतलब, राज्य काँग्रेसी और दाइदिल हमें महाराजाधिराज श्री श्री···। वास्तव में आजकल मैं इस गढ़ का ही राजा दीपसिंह हूँ। यह गढ़ जो कल तक खूबसूरत दरोगिनों से आबाद था, जो सैकड़ों दासों से भरापूरा-सा लगता था, आज यह सूना है। उसके बुर्जों पर चीलें बींटें करती हैं और उसके झरोखों में कौवे बोलते हैं। यह बड़ी विडम्बना है। मैं इस विडम्बना से कैसे छुटकारा पाऊँ ?

दिन ढल रहा है। सूर्य देवता हमेशा की तरह अस्त होने को आतुर हैं। मुझे उनकी इस गति से डाह है। क्यों नहीं भगवान् ने राजाओं को भी चाँद-सूरज का बीरन बनाया ? आज से नहीं, युगों से, युगों से क्या

सदियों से, ये दोनों अपनी गति पर कायम हैं। उदय होना, बढ़ना और अस्त होना।

जीवन की चिरंतन गति ! अपरिवर्तनशील ! अमर ! लेकिन मैं ?

सचमुच मैं, मेरे मन की स्थिति हर पल नया मोड़ लेती है। क्षण-भर के लिए भी एक विचार पर जमती नहीं। भविष्य का अंधकार पौराणिक दैत्य-सा मेरी ओर बढ़ रहा है। न जाने कब वह अपनी निर्दयी पाँखों से मुझे और मेरे समस्त भोग-विलास को ढक दे।

नियति ने कहा है कि खाते-खाते कूआँ भी समाप्त हो जाता है। स्पष्ट तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति उपार्जन नहीं करेगा, तो शेष समाप्त हो जायेगा। आज पाँच वर्ष व्यतीत होने को आये हैं। मैं निठल्ला बैठा हूँ। कुछ भी करता-धरता नहीं हूँ। पर ठाट-बाट पहले जैसे ही हैं। उतने ही ए. डी. सी. और उतने ही पी. ए.। उतने ही नौकर और उतने ही चाकर। हाँ, गोलियाँ[1] अलबत्ता पहले से कम हो गई हैं। क्योंकि स्वतंत्र भारत में आदमी आदमी का गुलाम नहीं बन सकता; पर कानून के हाथ जरूर लम्बे होते हैं लेकिन आँखें नहीं होतीं। वह सुन जरूर सकता है पर देख नहीं सकता। और इस गढ़ की घरजा गोलियां का मौन रोदन कानून के कान नहीं सुन सकते। इस गढ़ की इन बड़ी-बड़ी फौलादी दीवारों को भेद देना, इन गरीबों की आवाज की ताकत का काम नहीं। इनका जन्म यंत्रनुमा नारी से हुआ है और यंत्र की तरह चलकर एक दिन ये समाप्त हो जायेंगी। यही इनके जीवन का वास्तविक इतिहास है।

मेरे रसोड़े का उतना ही खर्च है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पकवान और माँस। दिन में दो-चार नहीं, सैकड़ों थाल आगंतुकों, जी-हुजूरी करने वालों, सलामी बजाने वालों के लिए परोसे जाते हैं। वाह ! थाल में झूठन नहीं ? यह कैसे हो सकता है ? थाल में झूठन रहना हम रईसों व उमरावों का ठाट है।

१. दासियाँ।

पोशाकों का भी उतना ही खर्च है। बेचारे गुलामों के लिए उतरन तो चाहिए ही। इधर मैंने कई मोटरें जरूर बेच दी हैं और बेच रहा हूँ—हीरे-जवाहरात। क्या करूँ? जैसे-जैसे जमा-पूँजी कम होती जाती है, वैसे-वैसे मेरे पाँवों के नीचे की जमीन खिसकती जाती है। सोचता हूँ—एक दिन यह खजाना खत्म हो जायेगा तब? तब भविष्य का भिखारी चिथड़ों में लिपटा सड़क पर ठोकरें खाता नजर आने लगता है। तब मैं काँप जाता हूँ। तब मुझे उस मूर्ख जनता पर गुस्सा आता है जो आज भी मुझे 'घणी-घणी खम्मा अन्नदाता' कहकर पुकारती है। लेकिन यह मेरी भोली रैयत क्या जाने—बीता हुआ वक्त वापस लौट कर नहीं आता, नहीं आता, नहीं आता!

ओह! ड्योढ़ीदार कहाँ है। उसे कहूँ कि मेरे आराम का बंदोबस्त करे।

ॐ शान्ति, शान्ति!

अशांत, उद्विग्न और उन्मन!

पल भर के लिए भी चैन नहीं। शांति नहीं। एक बार बूढ़े पुरोहित ने मुझे बचपन में दुलारकर कहा था, "कुँवर सा! जब आप परेशान हों तब भगवान् की अरदासना में मन लगाकर ॐ शांति, शांति का जाप करें। इससे मन को अलौकिक सुख और संतोष मिलेगा।

समझता हूँ कि आज वह वक्त आ गया है जब इस ऐय्याश मुर्दे को प्रभु की सत्ता के नीचे मन लगाकर अशांति से मुक्ति पाने की प्रार्थना करनी होगी। उस देवता के समक्ष अभ्यर्थना करनी होगी जिसके पावन मन्दिर के दर्शन मैंने यदा-कदा परम्परानुसार किए थे। आज उस

मंदिर के प्रभु के सम्मुख मेरी विनती नराधम 'अजामिल' से कम नहीं होगी। प्रभु मुझे जरूर शांति बख्शेगा।

"ड्योढ़ीदार !" मैंने पुकारा।

"खम्मा अन्नदाता !" ड्योढ़ीदार ने सिर झुकाकर हाथ बाँध लिए।

"हम मंदिर जाना चाहते हैं।"

"जो हुक्म !" ड्योढ़ीदार चला गया।

देखते-देखते मंदिर जाने का सारा प्रबन्ध हो गया। चाकर और अधिकारी खड़े हो गए। खम्मा अन्नदाता की दबी-दबा आवाज उनके कंठ-स्वर से निकल रही थी।

यही युग-परिवर्तन है। यही युग-वरदान है कि आज इन शापित-पीड़ित गुलामों की आवाज भी खम्मा अन्नदाता का गगनभेदी जयघोष करती हिचकिचाती है। एक अजीब-सा भाव उनके भयभीत चेहरों पर है जैसे उन्हें इस बात की आशंका है कि यदि महाराज नाराज हो गए तो...तो...मृत्यु ! नहीं, मृत्यु तो अब मैं नहीं दे सकता हूँ। लेकिन इतना जरूर कर सकता हूँ कि इन्हें किसी झूठे अपराध में बाँधकर जेल की हवा जरूर खिला सकता हूँ।

छि छि छि ! यह विषैली साँस की तरह बसा हुआ मेरा अहम् मुझे अभी भी पथभ्रष्ट कर रहा है। मैं प्रभु के द्वार शांति का वरदान माँगने जा रहा हूँ और यह मन अहम् के चारों ओर अभिमानी अजगर की तरह लिपटता जा रहा है।...प्रभु मुझे क्षमा करना !

मन्दिर आ गया है।

उसकी दीवारें बिना रंगाई के बड़ी भद्दी लग रही हैं। हमारे अतीत और वर्तमान का भेद बता रही हैं। और लाल पत्थर के गुम्बद कबूतरों का विश्राम-स्थल बन गये हैं। यह दशा है हमारे कुल-देवता के मन्दिर की। कितनी दयनीय, कितनी करुणाजनक !

मैंने देवता से चार नज़र की।

पुजारी ने अक्षत और फूलों को मेरे हाथ से स्पर्श कराके भगवान्

पर चढ़ाया और दक्षिणा की बाट जोहने लगा। मैंने परम्परा के अनुसार एक सोने की गिनी प्रभु के चरणों में भेंट की। पुजारी ने गद्‌गद् होकर मुझे खुले दिल से आशीर्वाद दिया। वह भूल गया कि उसके महाराज से भी बड़े उसके कुल-देवता हैं। वह कहने लगा, "जय पृथ्वीनाथ, जय महाराजा श्री दीपसिंह जी की ! जय घणीयाँ, आपके डंके चारों ओर बाजें। आपका राज्य वापस मिल जाय। आप वापस इस गरीब रैयत के अन्नदाता, राजराजेश्वर बन जायँ।" वह बकता गया और मैं विमूढ़-सा सुनता गया। वह चुप हो गया तब मैं अपने गन्तव्य पर आया।

मैंने श्रद्धाभिभूत होकर कुल-देव के समक्ष घुटने टेके और उस महामंत्र को बार-बार पढ़ा—ॐ शांति, शांति ! ॐ शांति, शांति !!

धीरे-धीरे मुझे शांति का अनुभव होने लगा।

मैं और निमग्न हो गया—महामंत्र को जपने में।

बंद कोठरी

प्रभात की प्रथम किरण उषा के अरुणिम अधरों का चुम्बन लेती हुई पृथ्वी की अंकशायिनी हुई तब मेरा मन स्वस्थ हुआ। मेरी पत्नी ने जब डार्लिंग-डार्लिंग कहकर मेरे शयनकक्ष में प्रवेश किया, उस समय मैं अपनी आँखों को मल रहा था। मेरी पत्नी ने आकर मेरा प्रभाती चुम्बन लिया। यह उसकी वर्षों की आदत थी। इस क्रिया के बारे में उसका कहना था कि सवेरे-सवेरे प्रेम करने से सारा दिन प्रेम में व्यतीत होता है। अतः वह इस क्रिया को क्रियात्मक रूप देने में किसी भी संकेत आदि की प्रतीक्षा नहीं करती थी।

रानी मेरे समीप बैठ गई। मैंने विनीत भाव से कहा, "आज मैं स्वस्थ हूँ।"

"बहुत-बहुत चोखी बात है। भगवान् करे कि आप सदा स्वस्थ और प्रसन्न रहें!"

"बात यह है रानी सा, खाली दिमाग शैतान का घर होता है।"

"एक काम बताऊँ?"

"बताइये।"

"अपना हरदासिंह कह रहा था कि स्वर्गवासी महाराजा ने जो कोठरी बंद की है उसमें अपार धनराशि है।"

मैं कुछ देर तक विमूढ़ रहा। मुझे अपने आप पर गुस्सा आया। अपनी बुद्धि पर तरस आया। क्योंकि मैं तो भूल ही गया था कि स्वर्गवासी पिता जी महाराज श्री मानसिंह जी एक ऐसी कोठरी भी बंद कर गये हैं जिसे खोलना सर्वथा मना है। उन्होंने उस कोठरी के बारे में यह भी हिदायत दी थी कि इसे कभी भी नहीं खोला जाय। उनके इस कथन पर हम सभी लोग आश्चर्य-चकित हो गये थे। किसी के भी पूछने की हिम्मत नहीं हुई पर राजपुरोहित जी से नहीं रहा गया। वे गर्दन झुकाकर बोले, "खम्मा अन्नदाता! ऐसा इस कोठरी में क्या है?"

"पुरोहित जी, एक बार बनारस से जो तांत्रिक और पंडित आए थे न, उन्होंने इस कोठरी में उन व्यक्तियों की आत्माओं को बंद कर रखा है जिनकी कोई-कोई इच्छा हमारे पूर्वजों के शासन-काल में पूरी नहीं हो सकी थी। वे सभी आत्माएं तांत्रिक महाराज के मंत्रों से इस कोठरी में बंद कर दी गई हैं ताकि वे तृप्त हो-होकर मोक्ष को प्राप्त करें। यदि हम ऐसा नहीं कराते तो ये सभी आत्माएं भूत हो-होकर हमें और हमारी सन्तान को कष्ट देतीं।" बात सही थी या गलत कोई नहीं जानता क्योंकि बनारस के तांत्रिकों को किसी ने भी नहीं देखा था।

पर यह सुनकर सभी भय से रोमांचित हो गये थे।

फिर यह हरदास ऐसा क्यों कहता है कि इसमें खजाना है। अपार धनराशि है।

मैं हरदास को अभी बुलाता हूँ। पूछता हूँ कि तूने ऐसा क्यों कहा ?""अरे कोई है ?"

लाली ने प्रवेश किया।

"खम्मा अन्नदाता !"

"हरदास को बुलाकर ला।"

"जो हुक्म !"

लाली चली गई। तब रानी बोली, "डार्लिंग ! उस बेचारे को डाँटना-डपटना नहीं, बड़ा भोला है न, बिना सोचे-समझे हमें खुश करने के लिए ऐसा बक देता है। प्लीज प्रोमिज मी।"

मेरी रानी अंग्रेजी भी जानती है, इसलिए वह हमारे खानदान के रीति-रिवाजों तथा कायदे-कानूनों पर अधिक ध्यान नहीं दिया करती है। उसकी यह अवहेलना मेरे लिए असह्य है पर मैं भी क्या करूँ ? पारिवारिक सुख-संतोष के लिए चुप रहता हूँ। लेकिन जब वह मुझे 'तुम' की संज्ञा से पुकारती है तब वह मुझे अत्यंत कर्ण-अप्रिय लगता है। हमारे खानदान का तो कायदा यह है कि बच्चों को भी आप कहकर पुकारो। पर रानी गिटपिट के पीछे जो पड़ी है।

हरदास आ गया। वह मेरे सामने हाथ बांधकर खड़ा हो गया।

"तूनें यह कहाँ से सुना कि उस बंद कोठरी में खजाना है।" मैंने अपनी दोनों बड़ी-बड़ी तेज आँखें उस पर जमा दीं।

उसने काँपते हुए उत्तर दिया, "जी अन्नदाता ! मेरी माँ एक कहानी सुनाया करती थी, उसमें ऐसा ही किस्सा आता है।"

"क्या किस्सा आता है ?" मैंने गर्जकर कहा।

"जी, जी, जी अन्नदाता !" उसका स्वर काँपने लगा। ललाट पर पसीने की बूँदें उभर आईं। चेहरा उसका स्याह पड़ गया। उसने अपने को संभाला, "माँ कहा करती थी कि राजा कोपभंजन एक अत्यंत

प्रतापी राजा थे। दान-पुण्य, धर्म-कर्म, सेवा-चाकरी सभी कार्यों में वे हर समय, हर घड़ी संलग्न रहते थे। सवेरे-सवेरे वे एक हजार एक ब्राह्मणों को भोजन कराके एक-एक अशर्फी दक्षिणा देते थे। इतना कुछ होते हुए भी राजा निःसंतान थे। संतान के अभाव में राजा हर घड़ी चिन्तित रहते थे। रानी हर घड़ी बाँझपन के कारण रोया करती थी।

एक दिन अचानक राजा कोपभंजन के दरबार में एक रमते जोगी आ पहुँचे। राजा ने उनकी हार्दिक आवभगत की। जोगी उनकी सेवा से अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने राजा को वर माँगने को कहा।

राजा बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने दीन स्वर में कहा, "महात्मा जी ! हम पति-पत्नी निःसंतान होने की वजह से बहुत दुःखी रहते हैं, इसलिए हे प्रभु ! हमें आप संतान का वर दें।"

योगीराज यह सुनते ही सफेद पड़ गये। थोड़ी देर तक समाधिस्थ रहकर बोले, "तुम अपना सर्वस्व भी दान कर दोगे तो भी तुम्हें संतान प्राप्त नहीं होगी।"

"क्यों महात्मा जी ?"

"तेरे पूर्वजन्म के कर्म अच्छे नहीं हैं। पूर्वजन्म में तूने एक निर्दोष वृद्धा के बेटे को शूली की आज्ञा दी थी। तब वृद्धा ने तुझे शाप दिया था कि जा तू भी अगले जन्म में मेरी तरह संतान के लिए तड़पेगा।"

राजा ने दौड़कर महात्मा के पाँव पकड़ लिए। रानी भी आ गई थी। दोनों महात्मा के पाँव पकड़कर कलपने लगे। महात्मा जी को दया आ गई और उन्होंने कहा, "तेरे एक पुत्र होगा लेकिन वह तेरे वंश को उज्ज्वल नहीं करेगा अपितु भोग-विलास में सारी सम्पत्ति नष्ट कर देगा। हाँ, यदि तूने उस सम्पत्ति को बचा लिया तो उसकी बुद्धि ३५ वर्ष के बाद ठीक रास्ते पर आ जायेगी।" इतना कहकर महात्मा जी अंतर्धान हो गये।

राजा के एक पुत्र हुआ।

खुशियाँ मनाई गईं और बधाइयाँ बाँटी गईं।

धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ। उसमें भोग-विलास की इतनी प्रवृत्ति थी कि वह दूर-दूर की राजकुमारियों को ब्याहने चला जाता था। सात-सात समुन्दरों के पार की सुन्दर राजकुमारियों को वह हर लाया था।

जब राजा मरने लगे तब उसके बेटे के रावले[1] में तीन हजार तीन रानियाँ थीं।

राजा को महात्मा की बात याद थी। अतः उन्होंने एक रात शेप धन और खजाना एक ऐसी कोठरी में बंद कर दिया जो सात कोठरियों में थी। और अपने विश्वासपात्र दीवान को बुलाकर कहा, "इसका भेद किसी को न मिले। यदि कोई पूछे तो कह दीजिए कि इसमें महाराज ने फलाँ जंगल के महादानव को बंद कर रखा है।"

हरदास चुप हो गया। मुझे उस नालायक पर बड़ा गुस्सा आया। क्या वह हमें चरित्रहीन या विलासी समझता है? क्या हमारे पर हमारे महाराज का विश्वास नहीं था? मेरी आँखों में खून उतर आया पर मेरी रानी ने डार्लिंग कहकर हमारे गुस्से को ठण्डा कर दिया। हम बरफ हो गये।

मैंने उसे आज्ञा दी, "तू यहाँ से चला जा।" वह सहमता-काँपता वहाँ से चला गया।

मैं बिलकुल गम्भीर हो गया। मन में मेरे भी संदेह उत्पन्न होने लगा। रानी भी बार-बार कह रही थी कि उसे भी संदेह है, जरूर इस बंद कोठरी में कोई खजाना ही होगा।

खजाना!

मैं स्वप्नाविष्ट हो गया। अतुल धन, चमकते सिक्के, हीरे-जवाहर मोती-माणिक······धन, धन, धन···!

मेरे होठों पर मुस्कराहट नाच उठी।

रानी ने नखरे से कहा, "डार्लिंग, व्हाई डू यू स्माइलिंग?"

मैंने हठात् कहा, "डियर, खजाना, पैसा···पैसा···"

१. अन्तःपुर।

१०

पुतले व पुतलियों वाला सिंहासन

दूसरे दिन लगभग साढ़े नौ बजे मैं हरदास को साथ लेकर गढ़ के पश्चिमी दरवाजे के बायीं ओर बनी मजबूत कोठरी की ओर चला। कोठरी लाल पत्थर की बनी हुई थी और उसके ठीक सामने पीपल का एक पेड़ था, उस पर नर-मादा कौवे बैठे थे।

मेरे मन में उत्साह, उमंग और कुतूहल के भाव एक साथ उठ रहे थे। और हरदास अनुभूतिहीन होकर मेरा पीछा कर रहा था।

मैंने कोठरी के समीप जाकर कुछ देर तक तो उसके ताले को देखा। क्षण भर के लिए अज्ञात भय मेरी नसों में दौड़ पड़ा। मुझे कँपकँपी छूट गई और दूसरे ही पल मैंने चीख कर हरदास को कहा, "हथौड़े से ताले को तोड़ दो।"

हरदास आगे बढ़ा और उसने पूरी ताकत से ताले पर चोट करनी शुरू की। देखते-देखते ताला टूट गया।

ताला टूटने के बाद मैं दस पल के लिए जड़ होकर खड़ा हो गया। फिर मैंने अपनी पिस्तौल को देखा। मेरे मन में भूत के बारे में जितनी भी कल्पनाएँ हो सकती हैं, एक साथ उठ खड़ी हुईं। सिर पर सींग, उल्टे पाँव और बाहर निकले हुए दो बड़े-बड़े हाथी जैसे दाँत। इन सभी भयानक कल्पनाओं के कारण मेरा तन पसीने से तरबतर हो गया। मैं कुछ देर तक निर्जीव-सा खड़ा रहा। हरदास ने आगे बढ़कर मुझे पुकारा, "अन्नदाता, मैं खोलूँ?"

मैंने हकलाते हुए कहा, "हाँ, हाँ तू ही खोल।"

वह आगे बढ़ा और मैं पीछे खिसका।

चरमराहट की आवाज के साथ कोठरी के फाटक खुलने शुरू हुए।

अभी फाटक पूरे खुलने भी न पाये थे कि कोठरी में से साँप निकला। हरदास चीखकर बोला, "अन्नदाता, साँप !"

"साँप," मैं एक ओर भाग खड़ा हुआ। पर वाहरे हरदास ! उसने अपने हाथ के हथौड़े से साँप का कचूमर निकाल दिया। थोड़ा उत्साह से बोला, "माई-बाप, इसमें जरूर खजाना है। जहाँ साँप या साँप की केंचुली मिलती है, वहाँ जरूर धन मिलता है।"

मुझे भी आशा की किरण दिखाई पड़ी। मन में लोभ जागा।

हरदास ने बड़ी हिम्मत से पूरा दरवाजा खोला।

पर ?

कोठरी में मकड़ियों के जाले अपनी पूर्ण कलात्मकता से बुने हुए थे। हवा का स्पर्श पाकर जैसे ही जाले हिले, वैसे ही उनकी मकड़ियाँ बड़ी अधीरता से इधर-उधर दौड़ने लगीं।

फर्श पर एक-एक इंच धूल की पर्त जम गई थी जिस पर हम दोनों के पाँव हूबहू शक्ल में अंकित हो रहे थे।

और उस कमरे में एक खजाना था ?

खजाना भी क्या, एक सिंहासन !

मैंने सिंहासन को देखा—"संगमरमर के बने उस सिंहासन पर जरी के कामदार मखमली गद्दे बिछे थे। संगमरमर की कला ताजमहल से मिलती-जुलती थी। मैं उस कला को भेदभरी दृष्टि से देखता रहा। देखता रहा—उस सिंहासन पर बने थे पुतले और पुतलियाँ। बच्चे, जवान, औरतें-मर्द, बुड्ढे और प्रौढ़ाएं।

मैंने उन्हें ध्यान से देखा—परिचित-से चेहरे, जाने-पहिचाने। मैं विचार में पड़ गया। इधर-उधर देखा—एक कपड़े का थैला एक किनारे दिखलाई दिया।

मैंने उठाकर उसे खोला। उसमें एक पाण्डुलिपि थी। उसमें लिखा था, "इसमें मेरे जीवन की सच्ची कहानी है। यदि किसी की आत्मा ध्यान लगाकर पढ़ेगी तो उसे अपने आपसे घृणा हो जायेगी।"

मैंने हरदास को कहा, "इस सिंहासन को मेरे शयनकक्ष के पास वाले कमरे में रखवा दो।"

उस रात मैं सभी कामों से निवृत होकर जब अपने शयनकक्ष में पोढ़ने के लिए आया तो मुझे एक अजीब-सी हंसी सुनाई पड़ी। मैं डर गया। इधर-उधर देखा—कुछ नहीं। सुना सब पुतलों का अट्टहास। मैंने सिंहासन की ओर देखा—पुतले व पुतलियाँ हंस रहे हैं। मैं यंत्रवत उठा। मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे वे मुझे बुला रहे हैं। मैं उनके पास गया। चेतना-हीन सा खड़ा रहा। एक ने घृणा से कहा, 'पढ़, अपने देवताओं की कथाओं को पढ़।' मैं घबरा कर अपने शयनकक्ष में आ गया और पढ़ने लगा। मैंने पहला अध्याय प्रारंभ किया।

ऐसा सदा होता आया है

घड़ियाल कह रहा है—

रात के बारह बजे हैं।

मैं महाराजाधिराज राजराजेश्वर राजा मानसिंह हूँ और हृदय-रोग से पीड़ित हूँ।

मान-निवास के सजे हुए इस कमरे में मैं मृत्यु-शय्या पर पड़ा-पड़ा मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। डाक्टर ने आज फिर मुझे तो नहीं, पर मेरे समस्त आत्मीयों को सदा की भाँति कह दिया है, "हमारे महान् पूजनीय अन्नदाता अब चंद घड़ी के मेहमान हैं।" यदि इन्हें पूर्ण शांति पहुँचाई जाय या ये स्वयं लें तो दो दिन और अधिक जीवित रह सकते हैं। लेकिन मैं अब जीवित रहना नहीं चाहता। क्योंकि इस नश्वर शरीर के लिए मैं परवशता और दीनता का जीवन-यापन नहीं कर

सकता। इसलिये मैं मर जाना ही श्रेयस्कर समझता हूँ।

आज मेरे हृदय में विभिन्न विचारों का आन्दोलन हो रहा है। मेरे प्रत्येक विचार का केन्द्रबिन्दु मृत्यु है। ऐसी मृत्यु जिसके स्मरण-मात्र से मेरा रोम-रोम सिहर रहा है।

मृत्यु !

हाँ, एक बार मेरे अनुज कुँवर अमरसिंह ने भी न जाने क्यों पूछा था, "भाइसा ने खम्मा !"

"कुँवर ! आज क्या बात है ?"

"मैं एक बात पूछना चाहता हूँ।"

"पूछो।"

"मृत्यु क्या है ?"

मैं इस प्रश्न को सुनकर मौन हो गया था। कितना गंभीर और दुरूह प्रश्न था वह कि मृत्यु क्या है ? लेकिन आज वह पूछता तो मैं कहता—

मेरे अमर !

दार्शनिकों की गंभीर चिंतन-मनन की जटिल समस्या 'मृत्यु' का सत्य और सरल रूप देखना चाहते हो तो अल्पकाल के पश्चात् यहीं पर देखना। लेकिन तुम तो मुझसे पहले ही इस जीवन-बंधन से मुक्त हो गए, अन्यथा तुम देखते निखिल विश्व के इस असीम व्याल में लिपटी मृत्यु किस सहजता से इस पार्थिव तन से उन्मुक्त होती है।

युगों से विश्व-पुरुष चिंतित है कि कैसे मृत्यु के रहस्य को जानकर उस पर विजय प्राप्त करें।

कालोदधि की विकराल लहरों में हजारों वर्ष बीत गए हैं किंतु आज तक उसने उसकी एक आभासात्मक हिलोर तक नहीं देखी।

जड़-चेतन, सजीव-निष्प्राण, नभ-धरा, शून्यता-कोलाहल और लघुता-विराट की कल्पना करने वालों ने यहीं आकर अपनी

पराजय स्वीकार करली कि दीपक की जलती-बुझती लौ ही जीवन-मृत्यु है।

मधुर भावनाओं पर विचरण करने वाले,...विश्व के संघर्षशील आर्वत से पलायन करने वाले व्यक्तियों ने सागर की सौम्य जलराशि पर उठले-मिटते हुए असंख्य बुदबुदों को जीवन और मृत्यु की उपमा दी है।

जीवन के इर्द-गिर्द रोटी और रोजी की चिंता करने वाले श्रान्त-क्लान्त श्रमजीवी जो ठोस धरती पर चलते हैं, रोटी और रोजी को ही जीवन समझते हैं। वे इन निराधार कल्पनाओं से नितांत दूर रहते हैं जैसे—

'भव्य-दिव्य बेला।...उत्फुल्ल पारिजात,...सजल, स्निग्ध पवन के शांत गति से प्रवाहित होने वाले अलौकिक सौंदर्य से भीगी हिलोरें।

चाँदनी रात!...उसकी शुभ्र अनुरागमयी चाँदनी।...चाँदनी में चमकते हुए गोरे-गोरे वालुका की वर्तु लाकार पहाड़ियाँ।.. निरभ्र प्रोत्साही वातावरण। प्रसन्नता ही प्रसन्नता!

उस सरसता निर्मित निर्माल्य में एक अतीव सुन्दर काल्पनिक प्रेयसि की मादक पायलियों की रुनझुन।

उसकी रतनारी, खंजन-सी अंजनमयी आँखों की गरिमा में माँ भारती के शब्दों की व्यूह-रचना।

अभिसारिका की उत्तेजित-आवेगित कल्पना में मग्न, उसके हरे, नीले, पीत, असित, सुरम्य आँचल में अपने आपको उलझाना।'

ठोस धरती पर चलने वाले इंसान इन शब्द-जाल से दूर हैं, बिलकुल दूर, क्योंकि जीवन की रक्त-रंजित विभीषिका, उसकी सड़ांद, विवशता से शोषित-गर्जन की उग्रता,...शुष्क-म्लान, अनगिनत दरिद्रता की चिन-गारियों से भस्मीभूत,...इस भयावह मृत्यु का वे अनुराग से अनुरंजित आलिंगन करने को प्रयत्नशील हैं, तो भी इन्हें मृत्यु नहीं आती।...कैसी विडम्बना है विधाता की?

पर मैं उसी मृत्यु की शंकाकुल प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

मेरी हर धड़कन प्रत्येक पल काँप उठती है जैसे उसे भय है कि मैं कब बंद हो जाऊँ ?

चिर-तृषित हृदय करुण-विलाप कर रहा है।

और मेरा बुढ़ापा ?'''नारकीय भविष्य की यंत्रणा से निश्चित अपने शिथिल चरणों को इन मखमली गद्दों पर कुछ दिन और रखना चाहता है। उसकी भोग-लिप्सा अभी भी अधूरी है, अतृप्त है क्योंकि प्रजा के रक्त से उत्पन्न की गई पूँजी के अम्बार उसके सामने रखे हैं।

अब रात का एक बजा है।

घड़ियाल बज रहा है।

मैं अकेला हूँ।

मेरी आँखों के सामने मेरे मान-निवास की भयावह मोटी-मोटी दीवारें हैं। मुझे लगता है—ये दीवारें मुझ पर विद्रूप की हँसी हँस रही हैं। अपनी मौन-वाणी में व्यंग कस रही हैं—'खम्मा अन्नदाता ! हमने आपके जीवन के कितने ही उतार-चढ़ाव देखे, उत्थान-पतन देखे, ऐसे अमानुषिक अत्याचार देखे, जो रियासतों के इतिहास में स्वर्णाक्षरों की जगह लाल खून से लिखे जायेंगे। जिनकी स्मृति मात्र से आने वाली पीढ़ी थूकेगी, घृणा से नयन तरेरकर न जाने आपको कैसी-कैसी गालियाँ और कैसे-कैसे उलाहने देगी, यह आप स्वयं सोच-समझ सकते हैं 'क्योंकि आपके दुष्कृत्यों से यदि कोई परिचित है तो स्वयं आप, अकेले आप !'

हाँ ! केवल मैं ही अपने उस पाप से परिचित हूँ जिसे मैंने इन दीवारों की ओट में किया था। इसलिए ही तो आज मैं अपनी आत्मा की घिनौनी विकृति को इन दीवारों की चिर अनुरक्ति पर न्यौछावर करना चाहता हूँ। क्योंकि इसने मेरे कृत्रिम बाह्य शील-सौंदर्य को नग्न नहीं किया।'''उस अत्याचार के प्रचंड-प्रभंजन की गति को विरोधा-

दिशाओं की वेदियों पर, इन गढ़ के कँगूरों और बुर्जों तक, 'खम्मा अन्नदाता' की वाणी से दिग्दिगंत को गुँजायमान करने वाली जनता-जनार्दन तक नहीं पहुँचने दिया, इसलिए मैं इनका अत्यंत आभारी हूँ।

इन दीवारों पर अजंता और एलोरा की अलौकिक शिल्पकला का अप्रतिम रूप है।...दिव्य-भव्य भारत-नाट्यम की आकर्षक मुद्राएँ चित्रित हैं। भगवान् बुद्ध की श्रद्धामयी प्राकृतिक सौंदर्य से परिपूर्ण मूर्ति है और मूर्ति के नीचे उनके 'त्रि-रत्न' जैसे बोल रहे हैं, चित्रित हैं।

पर आज जब मेरी आत्मा कँपाने वाला सतत् संताप कर रही है और मेरी विशाल एवं प्राणों से प्यारी दीवारें एक भूकम्प या प्रचण्ड-प्रपात से खण्ड-खण्ड होना चाहती हैं तो मेरा पापी मन किंचित सत्यता के साथ अपने जीवन की उन घटनाओं का निरावरण करना चाहता है. जो सर्वथा हेय हैं।

"हा...हा...हा !"—एक अट्टहास मेरे कमरे में गूँज पड़ा।

यह कौन हँसा ?

मैंने यह सोचकर अपना सिर जैसे ही ऊपर उठाया तो सिहरकर रह गया। मेरा झाड़फानूस घोर झंझा में जैसे काँपता है, ठीक वैसा ही काँपकर विडम्बना-पूर्ण और पैशाचिक अट्टहास कर रहा है। मेरे कान के पर्दे फट से गये हैं। मैं चीख उठता हूँ—'हँसो मत।' फानूस रुक जाता है और क्यों नहीं रुकता ? अपने अन्नदाता की आज्ञा की अवज्ञा करना क्या बच्चों का खेल है ?

वह शांत हो गया पर एक धीमी आवाजा उस फानूस से आ रही है—'राजा साहब ! मेरे प्रकाश में आपकी दुरात्मा का शैतान इंसानों और इंसानियत को जहरीले साँप की भाँति डसता था।...ऐसे नीच कौतुक करता था जैसे शायद जानवर भी नहीं कर सकते।'

इतना कह फानूस चुप हो गया।

मेरा ललाट पसीने से भीग गया है।

तन की रग-रग शांत और शिथिल पड़ गई है।

मैं नेत्रोन्मीलन करके अपने को धैर्य देता हूँ और फिर धीरे-धीरे अपने नेत्रों को खोलता हूँ—सामने संगमरमर की बनी एक चमकीली गोल मेज है। इस गोल मेज पर शस्य-श्यामला भूमि भारत की मृत्तिका की बनी एक प्रतिमा है जो एक कलाकार की अद्भुत अंगुलियों का अद्भुत कौशल है।

यह प्रतिमा सजीव-सा जान पड़ती है।

इसके सौम्य अधरों पर उन्माद-भरी मुस्कान भारती के उस उपेक्षित कलाकार की कलात्मक सर्जना के गान को युगों तक ध्वनित-प्रतिध्वनित करती रहेगी और अंत में बताकर रहेगी—माँ तेरी गोद में ऐसी अमर-विभूतियाँ उत्पन्न हुई थीं जिन्हें हमारे जैसे निरंकुश और हठी शासकों ने शोषण की चक्की में पीस डाला।

आज!

आज तो इसकी मधुर मुस्कान में रोष और विषाद की रेखाएँ नाच रही हैं। क्योंकि यह भूली नहीं है उस रात को जब कलाकार इसे श्रद्धा से यहाँ स्थापित करता हुआ भावना में बहा था।

कितनी अनुपम उसकी भावना थी!

उसकी वाणी में युग-देवता की आवाज प्रतिध्वनित हुई थी।

वह भावातिरेक से बोला था—'मेरी आत्मा! तुम उस नील-नभ से रवि-रश्मि की डोर को पकड़कर इस धरती पर अवतरित हुई हो। तुम माया-बन्धन और परतंत्रता से उन्मुक्त हो। अतः हे स्वतंत्रे! किंचित नर्तन, थिरकन, मचलन और उत्साह से सिंचित यौवन का ज्वार ला दो ताकि हम भी स्वतन्त्र हो जाएँ। हमारी जननी की लौह-मेखलाएँ टूट जाएँ।

......और इन्हें (राजाओं) नई प्रेरणा देना, नव आह्वान देना ताकि ये भी क्रान्ति के बिगुल को बजाकर नवघोष करें।

तब मैंने उस कलाकार को विप्लववादी कहा, देशद्रोही के नाम से

सम्बोधित किया और अपने सिपाहियों से ऐसा ज़हर दूध के साथ पिलवा दिया कि वह धीरे-धीरे इस पृथ्वी से सदा के लिए चला गया।

लेकिन उस कलाकार की मृत्यु ने एक ऐसा वृक्ष लगाया जिसका हर फूल सुर्ख फूल बनकर उत्पन्न हुआ।

रात उसी गति से ढल रही है।

उसकी साँय-साँय और गंभीर हो गई है।

मेरी दृष्टि प्रतिमा के गले पर जमी हुई है। उसने अपने गले में हार पहन रखा है।

यह हार राजों-महाराजों की परम्परा-शोभित कोई 'नौलखा' या सतलड़ा[1] हार नहीं है अपितु यह मेरी गोली[2] 'फागा' का हार है जिसे उसके पति ने एक बार मेले से खरीद कर दिया था। उसके पति ने पूँगलगढ़ की पद्मिनी से भी अधिक सुन्दर बहू को यह खोटा हार देकर पूछा था—"कैसा है यह हार ?"

"नौलखा।"—कितने अरमान से उत्तर दिया था फागा ने।

"तुम्हें पसन्द है ?"

"अपने जी से भी।"

तब मेरा खून खौल उठा था। आँखें अंगारों की भाँति दहक उठी थीं। मैं अपने आप से कह उठा—'हरामजादी ! हमारे हीरे-पन्ने के हार भी तुझे नहीं सुहाते और अपने खसम के खोटे मोतियों के हार को भी मसल-मसलकर छाती से लगाती है, कमीनी कहीं की !'

तब मैंने डाह से जलकर अपने इन निर्मम हाथों से उसके हार को तोड़ डाला था। वह रोई थी लेकिन मुझे कोई चिंता नहीं थी। क्योंकि इसका एक कारण यह भी था कि यदि फागा के पास उसके पति की कोई भी निशानी शेष रही तो वह अपने तन का विचार-विहीन समर्पण नहीं कर सकेगी। इस हार को देखकर उसे अनायास ही अपने पति की याद आ जाएगी।

१. सात लड़ी वाला। २. दासी।

मैंने उस समय हार को तोड़ दिया।

लेकिन आज तो मुझे ऐसा लगता है कि जैसे मैंने हार क्या तोड़ा, उस निरीह दासी की उस आशा को ही तोड़ दिया जिसे वह झंझा-आवेष्टित दीप की भाँति अपने विद्रोही आँचल से जलाए रखे हुए थी।

वे पल कितने पीड़ित थे! हार टूटने पर जब वह बावली-सी उन्हें चुगने लगी तो मैंने कितना असह्य पद-प्रहार किया था, जिसका उदाहरण इतिहास और आदिम युग में ढूँढ़ने से ही मिलेगा!

पर बाहरी प्रीत-दीवानी फागा! प्रहार की सांघातिक पीड़ा की चिंता किए बिना ही उसने एक-एक मोती चुग लिया। हर मोती के साथ उसका एक अश्रु छलक पड़ता था जैसे उसकी परतंत्रता, विवशता और दीनता के त्रिकोण में एक लगन है, एक जलन है, एक तड़पन है।

उसने पुन: हार बना लिया जो अब इस प्रतिमा के गले में है।

फड़् फड़् फड़् ड़् ड़् ड़् फड़् !

बाहर से किसी पक्षी के पंख फड़फड़ाने की आवाज आई।

एक पहरेदार दूसरे पहरेदार से कह रहा है—'देखो महल पर क्या है?'

दूसरा पहरेदार उत्तर देता है—'उल्लू था, उड़ गया।'

रात की गति में कोई अन्तर नहीं है।

वह ढल रही है और ढलती ही जा रही है।

और घड़ियाल भी बजता ही जा रहा है।

यह सब चिरन्तन है।

मेरे कमरे के मुख्य-द्वार पर भारतवर्ष का मानचित्र बना है। उस भारतवर्ष का जिसको हमने, हम क्षत्रियों की फूट ने, हम शासकों के लोभ ने गुलाम बना डाला था; किसी चितेरे की तूलिका का आश्चर्य-जनक कमाल है। कितनी चतुराई से उसने इसका निर्माण किया था!

देखो—

हिमालय की उत्तुंग श्रेणियाँ, उस पर रवि-रश्मियों का स्वर्णिम तोरण !

हिन्दुकुश और काराकोरम का दृढ़ पहरा।

ब्रह्मपुत्र का विनाशकारी ताण्डव, परिवर्तन का भयावह खेल।

एक ओर पंचनद का किल्लोल करता हुआ प्रवाह, छलकता-मचलता, कूलों से टकराता, उच्छृंखल, प्रचंड, विराट, जीवनदायी, खेतों और खलिहानों की सुषमा को बढ़ाता हुआ सागर की उत्ताल तरंगों में विलीन हो जाता है।

दूसरी ओर शुभ्र-शान्त पतित-पावनी गंगा की गतिशील वीचियाँ।···भगीरथी-श्रम की प्रतीक !

श्यामवर्णी स्निग्ध यमुना की चंचल छोरों को तृप्त करती हुई धारा।

सरस्वती की मेधा-वर्धक जल-क्रीड़ा।

प्रयाग का संगम। नैसर्गिक सौन्दर्य का केन्द्रस्थल जिस पर गगन के तारे भी अपना प्यार लुटाते हैं।

राजस्थान का उत्सर्ग, चित्तौड़ की उग्रता, जौहर की ज्वालाएँ, जूझारों का शौर्य, मीरा का विरह और उसके अमर गीत।

दिल्ली का राजनैतिक वैचित्र्य।

मथुरा और वृन्दावन का वेणुनाद, शुभ्र, शारदीय ज्योत्स्ना, रास-क्रीड़ा, गोपियों का निश्छल प्रेम।

कुरुक्षेत्र का रक्त-रंजित इतिहास।···अर्जुन का कर्म-विमुख मन···और गीता का महान्-दर्शन, प्रेरणादायक मंत्र।

बंग का संगीत, उसकी दीर्घ कुन्तल वाली ललनाएँ, महाप्रभु चैतन्य की वाणी और उसकी वैज्ञानिक प्रगति।

गुजरात का 'गरबा' नृत्य।

सौराष्ट्र की शूरता, शिवाजी का कर्त्तव्य, उनकी नैतिकता।

दक्षिण का भारत नाट्यम् और ललित कलाएँ और मंदिर।

कन्याकुमारी की अस्पर्श चारुता।

—इतनी विविधता से परिपूर्ण यह हमारा देश, उसका भव्य-दिव्य दर्शन आज—

आज संसार का कृपापात्र बना है।

मेरी मृत्यु पर वेदना के दो आँसू नहीं, विडम्बना की हँसी हँस रहा है।

क्यों हँस रहा है?

इसलिए कि धरती का स्वामी होकर के भी मैने अपनी धरती के कुँवारेपन को छला, उसे अनेकानेक यंत्रणाएं दीं, उसे औरों के हाथ बेच दिया और उसका सुहाग-सिंदूर उसके माथे पर अपना रंग लाये, इसके पहले मैंने उसे मिटा दिया।

मैं कितना बड़ा स्वार्थी हूँ!

खट् खट्, खड़्ड़्ड़्ड़्ड़्!

कोई दरवाजा खोल रहा है?···शायद डाक्टर होगा। हाँ, यह डाक्टर ही है। इसके चेहरे पर चिंता की रेखायें दौड़ रही हैं। इसने मुझे शांत पड़े रहने को कहा था लेकिन जीवन के अंतिम क्षणों में पश्चात्ताप का जो झंझा उठता है, वह इंसान को शांत नहीं रहने देता।

अब डाक्टर मेरे सन्निकट है। मुझे सिर झुकाकर निवेदन कर रहा है, "खम्मा अन्नदाता! आप इस तरह बेचैन रहेंगे···तो···?"

"तो मैं बच नहीं सकूँगा, यही तो तुम कहना चाहते हो?"

"हाँ!"

"पर डाक्टर, मैं बेचैन हूँ कहाँ?"

"यह तो आपके ललाट का पसीना बता रहा है, अन्नदाता!"

"ओह! यह पसीना!···तो डाक्टर मैं बचूँगा नहीं।"—मेरा स्वर, गंभीर है।

"न बचें आपके दुश्मन।"

"डाक्टर ! यह तुम नहीं बोल रहे हो, मेरा आतंक बोल रहा है, ...मृत्यु निश्चित है, डाक्टर !"

"पर आप जरा धैर्य धारण कर लेते तो...।"

"यह अब मेरे वश का रोग नहीं है। डाक्टर, यदि मैं अपने विगत जीवन के पापों की सूची नहीं बनाऊँगा तो यह दम गले में तड़पता रहेगा, निकलेगा नहीं। शायद तुम उस कहावत से अपरिचित हो—

'जिसने जीवन में जितना पाप किया है, उसका दम उतनी ही देर से तड़प-तड़पकर निकलेगा।' "

"......।"—डाक्टर अर्थभरी दृष्टि से मेरी ओर ताकने लगता है।

"झूठे आश्वासन का प्रभाव गलत पड़ता है।...अच्छा हो, यदि तुम मेरे परिवार वालों को भेज दो,...उनके सामने मेरी मृत्यु आयेगी तो वह कितनी सफल मृत्यु कहलायेगी।"

डाक्टर इस पर अस्वीकृतिसूचक सिर हिला देता है और अपनी विवशता प्रगट करता हुआ बोलता है—"कोई भी आपसे इस हालत में मिलने को तैयार नहीं है।"

"क्यों ?"

"वे आपको जिंदा देखना चाहते हैं।"

इस बात पर मुझे हँसी आ जाती है। एक उपहास-भरी स्मित मेरे अधरों पर दौड़ जाती है—"डाक्टर ! तुम कितने भोले हो ?...... राजनीति का 'क-ख' भी नहीं जानते।......शायद तुम यह भी नहीं जानते कि हर राजा का बेटा यही सोचता है कि कब उसका बाप मरे, और कब वह सिंहासन पर विराजे ? उसकी जबान और मन में उतना ही अंतर है जितना रात और दिन में......आज जब मैं मृत्यु के मुख में अपने आपको पाता हूँ तो मैं एक बात स्पष्ट रूप से जानता हूँ—राजपूत होना अपराध है। कितना झूठा जीवन व्यतीत करते हैं हम ! प्रजा पर अत्याचार, झूठी आन-शान के नारे, भोग-विलास और घोर

अशांति,''''''डाक्टर ! मेरी आँखें तब खुलीं जब भगवान् ने मुझे लाचार बना दिया।''

''आप शांत रहिए अन्नदाता ! बोलना आपके लिए हानिकारक है।''

मैं चुप हो गया हूँ।

डाक्टर द्वार की ओर जाता-जाता मेरी आँखों से ओझल हो गया है।

अब मैं अकेला हूँ।

रात अकेली है।

घड़ियाल बज रहा है।

और मेरी आँखों के आगे मेरा विगत-जीवन नंगा होकर नाच रहा है।

मेरा अतीत और मैं।

मेरा पाप और मैं—राजा मानसिंह, अन्नदाता !!

मेरा महल और गोलों की चीखें !!!

मेरे इस दुर्बल हृदय को आज रह-रहकर तड़पा रही हैं। मेरी श्वाँसों को घोंट रही हैं। मेरा अतीत और पाप'''

मेरे जीवन की नाचती-बोलती तस्वीरें—

आज मैं पुनः सदा की तरह दोहराऊँगा।

कहानी प्रारंभ होती है

नगर का नाम नहीं बतलाता पर राजा मानसिंह का जन्म जब हुआ तब सारे रावले में खुशियाँ मनाई गई, बधाइयाँ बाटी गईं और आजन्म कैदियों की दो-दो साल की कैद भी कम की गई।

महाराजाधिराज उस दिन खुले हाथों से दान-पुण्य कर रहे थे। नौकर-चाकर, दास-दासियाँ सभी एक अपरिसीम आनंद में डूब से रहे थे। उनकी प्रसन्नता इस सीमा तक पहुँच गई थी मानो सबके सब नशा पी चुके हों।

उस दिन अमावस की रात थी। अँधियारे में तारे मुस्कराते हुए जान पड़ रहे थे। अपार उच्छ्वसित वातावरण के कारण उदासी मन मारकर क्षितिज पर जड़ हुए अँधियारे के साथ बैठ गई थी—भयाक्रांता-सी।

मंदिरों के घंटे, नगाड़े और झांझरें विशेष रूप से बजाई गई थीं क्योंकि धरती पर नवजात शिशु का पदार्पण हुआ था। उस गढ़ में जहाँ सामन्ती अत्याचार प्रेत-से मनुष्यों के अन्तर में छिपे थे, वहां ऐसी सुखद स्वच्छंदता अमर वरदान से क्या कम होती है?

महाराजाधिराज राजसिंह ने उस दिन विशेष राजवी ठाकुरों को आमंत्रण भेजा और सारी रैयत में एक-एक रुपया बधाई का देने को कहा।

समय बीतता गया।

कुँवर मानसिंह जी छः साल के हुए तब उनकी माता जी का देहान्त हो गया।

मानसिंह अपनी माँ से प्रायः एक बात पूछा करता था, "माँ सा! आपसे महाराजाधिराज बोलते क्यों नहीं?"

माँ का गला भर आता था। पानीदार चेहरे पर दुख की घटायें छा जाती थीं। आँखें भर आती थीं। बड़ी मुश्किल से वे बोलतीं, "कुँवर, महाराजाधिराज बड़े व्यस्त रहते हैं। उन्हें समय ही नहीं मिलता। राज-काज की बातें ठहरीं बेटा, फुर्सत ही कहाँ मिलती है?"

कुँवर को इससे शांति नहीं मिलती थी। ऐसे गंभीर प्रश्न का इतना हल्का उत्तर उस बालक के अन्तर को संतुष्ट नहीं कर सकता था। उसकी भोली-भाली नन्हीं-नन्हीं आँखों में करुणा का सागर उमड़ पड़ता

था। वह अपनी माँ के मुँह को अपने दोनों हाथों में पकड़कर कोमल स्वर में बोलता, "माँ सा ! आप झूठ क्यों बोलती हैं। महाराज साहब तो नई माँ के पास दूसरे-तीसरे दिन जाते रहते हैं।"

माँ की आँखें छलछला आती थीं। ममत्व उमड़ पड़ता था और वह सिसकियाँ लेकर अपना चाँद-सा उज्ज्वल मुख अपने ओढ़ने के पल्लू में छिपा लेती थी। कुँवर हतबुद्धि-सा उसे देखता रहता था। उसकी आँखों में दारुण व्यथा छलक उठती थी। वह समझ नहीं पाता था कि क्या रहस्य है, इस बात के पीछे।

उस दिन पूर्णमासी थी।

चाँद की शुभ्र ज्योत्स्ना गढ़ के कंगूरों से टकराती हुई, वियोगिन रानी के झरोखे पर पड़ रही थी। गढ़ के कूएँ पर उगे हुए नीम के वृक्ष की पत्तियों पर छितराती हुई चाँदनी कभा-कभी चमकीली वस्तु का भ्रम कर देती थी।

झरोखे के आलीशान कालीन पर सिंह और बकरी एक साथ पानी पीते हुए दिखाये गये थे। कालीन पर लहंगा और चोली पहने बड़ी रानी वीणामती विदग्ध-सी चित्त लेटी थी। उसकी खास बांदी जय-माला चाँदी के प्याले में दूध ठंडा कर रही थी। कुँवर मानसिंह पलंग पर उनींदा पड़ा था।

वीणामती चाँद को देख रही थी। उसकी आँखों में उस अनन्त आकाश की अगम नीलिमा तैर रही थी। उसकी हर उसाँस में उसके अन्तराल की ज्वाला के स्फुलिंग उठते नजर आ रहे थे।

जयमाला ने अत्यंत विनीत स्वर में कहा, "कुँवर सा ! उठिये, दूध तैयार है।"

कुँवर ने ऊंऽऽ करके करवट बदल ली।

इस बार जयमाला ने तनिक तेज स्वर में कहा, "कुँवर ! दूध ठंडा हो रहा है, उठिये न।"

वीणामती झल्ला पड़ी। उसके स्वर ने वीणामती के काल्पनिक

सुखद संसार में प्रहार कर दिया था। वह सोच रही थी, "इस पीड़ा-मय संसार से, ओ सबको प्रकाश देने वाले चाँद! मुझे दूर, बहुत दूर लेजा।

"यह संसार महामोह के बिकट बंधन में जकड़ा हुआ है तभी तेरी तरह यहाँ का इन्सान समस्त बन्धनों को छोड़कर अस्त नहीं होता।

"यहाँ का स्वामी, ओ मेरे प्रिय चाँद! विलास के महासागर में इतना निमग्न हो गया है कि उसे सहज मानवीय सम्बन्धों का भी ध्यान नहीं रहा, इसलिए ओ कृपालु चाँद, तू मुझे इस निर्दयी दुनिया से अपने तारों वाली शान्त और मधुर दुनिया में ले चल।

"ओ गोरे बदन वाले चाँद! मैं क्या कम रूपवती हूँ? जब मैं वस्त्रहीन होती हूँ तो तुम्हारी चाँदनी से कम गोरी नहीं लगती और मेरे वक्ष के उभार में इतनी हलचल और चमक रहती है जितनी हल-चल और चमक तुम्हारी लहरों पर। फिर भी यह जग तुम पर सर्वस्व लुटाता है और मुझे मेरा स्वामी भी त्याग चुका है।

"ओ चाँद! अब मैं थक गई हूँ; अब तू मुझे अपने पास बुलाले क्योंकि कल वहाँ वसंत छायेगा, प्रेम की अबीर से वहाँ का आँगन शत-दल सा लगेगा, तब मैं तुम्हारे संग रासलीला करूँगी।"

इस मधुर वितान में जयमाला के स्वर ने अवरोध उत्पन्न कर दिया था जो वीणामती के लिए असह्य हो गया था। उसने डपटकर कहा, "क्या बक-बक लगा रखी है? चुप नहीं बैठा जाता?"

जयमाला ने अपनी आँखें झुका लीं।

"वक्त-बेवक्त का भी ख्याल नहीं रखती। जब मन में आया बक देती है।" रानी पेट के बल सो गई। उसकी नासें फूलने लगीं। उसकी आँखों में जो थोड़ी देर पहले कोमल भावनाओं की गहरी शून्यता छाई हुई थी, उनमें हिंसात्मक चिनगारियाँ-सी भड़क उठीं।

जयमाला काँपने लगी। उसके होंठ कुछ कहने के लिए फड़के पर कुछ कह न सके, मानो युगों से जमे उसके अंतर के आतंक ने उसे

मना कर दिया हो कि बोल मत, बोलेगी तो यह रानी सा तेरी जबान काट डालेंगी।

"मुझ से भूल हो गई।" जयमाला ने आर्द्र कण्ठ से कहा।

"क्यों भूल हो गई ?"

"कुँवर सा को दूध पिलाना था।"

"दूध चिल्ला-चिल्लाकर पिलाओगी ?"

जयमाला चुप !

"जरा भी नहीं विचारती कि हमारा रुख क्या है ? मन संताप में जल रहा हो और तू···।"

जयमाला ने कुँवर को सहलाकर धीरे-धीरे उठाया। कुँवर ने आँखें खोलीं। मुस्कराकर बोला, "माँ सा ! यह चाँद टूटा-हुआ क्यों है ?"

वीणामती ने चाँद की ओर देखा। बादल के एक टुकड़े ने न जाने कहाँ से आकर चाँद को आधे से अधिक ढक लिया था, जिसका माँ को भी आश्चर्य था। मुस्कराकर बोली, "राजा बेटा ! आज पूनम की रात है, चाँद अपनी सभी कलाओं के साथ उगता है। यह तो निगोड़ा बादल आ गया है जिसने चाँद को ढक लिया है।"

बालक के प्रश्न का निराकरण हो गया। माँ पुनः अपनी जीवन की विडम्बना में एकाकार हो गई। व्यथा और व्यथा की विकराल बहिन में अपनी अतीत की मधुर स्मृतियों को करुण क्रंदन करने के लिए वीणा ने उन्हें छोड़ दिया और वे स्मृतियाँ वाणी का रूप धारण कर अथवा अश्रु बनकर बाहर न आ जायँ, इसलिए उसने अपने चेहरे को दो मखमली तकियों में छुपा लिया।

जयमाला ने कुँवर को दूध पिला दिया था। कुँवर निद्रा की अलमैस्त अंक में मुस्करा रहा था। आज न जाने जयमाला को नींद क्यों नहीं आ रही थी ? जीवन की इस शुष्क-बंजर राह में उसके यौवन के बेशुमार फूल खिले, पर न तो उससे किसी ने अमर यौवन के बीज

ही लिए और न ही उसने किसी बीज को अपने में धारण ही किया। माँ, संतति का सुख, प्रसूति की पीड़ा, प्रथम शिशु की पावन वाणी—सभी कुछ से भी तो वह वंचित रही है।

अखंड कौमार्य व्रत !

चाँद कंगूरों के नीचे ढल गया था इसलिए जहाँ-तहाँ कंगूरों की छाया पड़ने लगी थी। वीणा भी न जाने कब अंतर्ज्वाल में जलती सो गई थी, जयमाला को यह भी पता नहीं था।

उसके विचारों को सीधा सम्बंध अपने आप से था। वह स्वयं पर केन्द्रित थी।

ऊसर धरती की तरह वह उपेक्षित और प्यासी थी। कभी किसी ने उस पर प्रेम की एक दृष्टि भी नहीं डाली। यौवन की दहलीज पर जब उसने कदम रखा तब काली साँपिन की तरह उसे सभी ने, यहाँ तक गढ़ के दासों ने भी उसे अपने से दूर कर दिया। फिर भी उसे किसी से कोई शिकायत नहीं थी। वह समझती थी कि प्रभु ने उसे कुरूप बनाया है और प्रभु को कोसने वाले का अगला जन्म भी बिगड़ जाता है।

लेकिन न जाने कभी-कभी पश्चात्ताप की लपटें उसके अछूते तन में और कुँवारे यौवन के अंदर क्यों सुलग उठती थीं, जिसका अनुमान उसके बूते के बाहर था।

एक दिन उसकी सहेली काली ने कहा था, "वह औरत महापापिन होती है जो जीवन में औरत के धर्म से दूर रही हो।"

काली का यह वाक्य सुनकर जयमाला निश्चेष्ट हो गई। बड़ी सरलता से उसने काली से कहा, "तो मैं क्या करूँ ?"

"अन्नदाता से विनती कर, वे किसी न किसी से तेरा व्याह रचा ही देंगे। यहाँ हमारे पेशेवालों की क्या कमी है ?"

"पर मैं कहूँ कैसे ?"

"यह भी मुझे बताना होगा !" उसने आश्चर्य से कहा। उसकी

तर्जनी उसके निचले होठ पर थी और आँखें बिलकुल स्थिर हो गई थीं।

"मैं कुछ नहीं जानती।"

"तू कैसी औरत है ?" उसने मीठे गुस्से से कहा, "औरत होकर अपने मन की बात नहीं कह सकती ? मैं कहती हूँ कि तू औरत न होकर मर्द होती तो अच्छा होता !"

न जाने जयमाला का हृदय क्यों भर आया। भर्राये स्वर में वह नीची गर्दन करके बोली, "मैं जन्म ही नहीं लेती तो अच्छा होता। शील-मर्यादा मुझसे नहीं बेची जाती।"

"फिर मरती रह, क्यों रोती है, क्यों गिड़गिड़ाती है ? कुँवारी मरना चाहती है तो मर। मुझे क्या पड़ी ? मैं तो काली हूँ, गोरी नहीं; पर कौन-सा ड्योढ़ीदार, कौन-सा दरोगा और कौन-सा ठसकेदार बचा है जिसने काली के रंग में रंगना स्वीकार नहीं किया हो। अरी माला, मुझे घुट-घुटकर मरना अच्छा नहीं लगता। मरना है तो मौज करके मरेंगे !"

जयमाला शून्य-सी हो गई।

काली ने उसके गाल पर हल्की चपत लगाते हुए वात्सल्य के स्वर में कहा, "यह महाराजाधिराज राजसिंह का गढ़ है; यहाँ कई औरतें हैं और हर महीने इनके खैरख्वाह अच्छी औरतें पकड़कर लाते हैं और महाराजा को नजर करते हैं। यहाँ यदि तू अपना अस्तित्व और रुतबा रखना चाहती है तो एक ही उपाय है,—नखरे से चल, नखरे से बोल, नखरे से डोल और सबको अपने मिज़ाज और उपेक्षा के अंदाज बता।"

काली चली गई और जयमाला निरुपाय-सी अचल खड़ी रही। सोचती रही, 'कैसा अनोखा संसार है और कैसी विकट रीतें और रास्ते हैं। पर मैं···?···मैं ऐसा नहीं कर सकती। डोरे डालना, आँखें लड़ाना और मटक-मटककर उन आदमियों को पटाना जिन्हें हमारे अन्नदाता जानवर कहते हैं, कुत्ते की तरह फटकारते हैं और गधे की तरह बात-बात पर पीटते हैं। ऐसे इंसानों के लिए उसे अपने शील का सौदा करना

पड़ेगा ? नहीं, औरत का धर्म, उसका आनंद···?'

तब से जयमाला ने अपने आपको ज़हरीला फल समझ लिया था। समझ लिया था, 'उसे चाहनेवाला इस चहारदीवारी में कोई नहीं है। बदसूरती और चाह !' वह हँस पड़ी।

वर्ष पर वर्ष बीत गये।

रावले के रंग में कोई अंतर नहीं आया। भोग-विलास की नदी का ज्वार बढ़ता ही गया और जब एक दिन महाराजा ने अपने दीवान से दुबारा विवाह करने की इच्छा प्रकट की तो वीणामती आहत साँपिन की तरह फूत्कार उठी।

महाराजा शराब के नशे में धुत थे। सीढ़ियों में उनके कदमों की आहट सुनकर वीणा सजग होकर बैठ गई। राजपूती शौर्य उस दिन उसके अप्रतिभ मुख पर दीप्त हुआ था। लाल सेब की तरह उसके गाल कठोर अंगारे की तरह दहक उठे थे। आँखें जो सदा मादक रस बरसाया करती थीं, उनमें क्रोध और दुख के संघर्ष से उत्पन्न आँसू बह रहे थे।

महाराजा ने कक्ष में कदम रखा।

वीणा ने पलकें झुकालीं।

"क्या बात है राणी सा ?"

"कुछ नहीं ?"

"फिर यह हल्की रोशनी कैसी ?"

"ओह !" कहकर वीणा ने सारे बल्ब जला दिये। कमरा जगमगा उठा। आदमकद शीशे मुस्करा उठे और शराब के प्यालों में स्पन्दन भर उठा।

महाराजा मसनद के सहारे इतमिनान से बैठते हुए बोले, "राणी सा ! प्याला ढालेंगी ?"

"जो हुक्म महाराज !" वीणा ने अंग्रेजी शराब की एक बोतल अपने पलंग के नीचे से निकाली और प्याले में भरने लगी।

"आप नहीं पीयेंगी ?"

"मैंने कब पिया था महाराज ?"

"जोबन में भी नहीं।"

"जवानी में मैं अधिक श्रद्धालु बन गई थी। वासना का उद्दाम कर्त्तव्य के साँचे में जकड़ गया था।"

"समझदार हो न, पढ़ी-लिखी हो न, नहीं तो यहाँ रानियाँ शराब पीती ही नहीं, शराब और दूध में स्नान तक कर लेती हैं।"

"यह बात नहीं है महाराज ! समझदार और शिक्षा ही पथभ्रष्ट होने की कसौटी नहीं। मैं आपको बहुत से ऐसे व्यक्ति बता सकती हूँ जो अत्यन्त बुद्धिमान और शिक्षित हैं लेकिन उनमें चारित्रिक दुर्बलता की मात्रा भी कम नहीं।"

"लेकिन उनकी दुर्बलता में सजगता का लोप नहीं होता। वे अप-राध नहीं करते।"

"मैं इसे नहीं मानती। बहुत से व्यक्ति सजग होते हुए भी अपराध करते रहते हैं, उनको आप क्या कहेंगे ?"

महाराजा ने एक घूँट हलक से उतारा पर वे वीणा के इस प्रश्न का उत्तर नहीं ढूँढ़ सके। चुपचाप प्याले को देखते रहे।

रानी ने अपनी आँखें महाराजा के चरणों पर टिका दीं। व्यथा से बोझिल हल्की फूत्कार करके वह लम्बे स्वर में कहने लगी "महाराज, अपराध या तो पीड़ित आदमी ही करता है या निःशंक ही।"

"वह कैसे ?"

"आप किसी पर जोर-जुल्म करेंगे, वह आपका विरोध करेगा, आप किसी को दबायेंगे, वह आपको अवसर देखकर धर दबोचेगा ? यह एक तरह अपराध ही हुआ क्योंकि कानून अपनी लीक पर ही चलता है और दूसरा अपराध आप जैसे महान् व्यक्ति करते हैं, क्योंकि आपकी इच्छा, आपकी तृष्णा, मृगतृष्णा की तरह अनंत है।"

महाराजा को कड़ुवे बोल अच्छे नहीं लगे। नयन तरेरते हुए बोले, "क्या बात है ?"

"मैंने सुना है कि आप फिर ब्याह करने वाले हैं ?"

"हाँ ।"

"क्यों ?"

"इस सवाल का उत्तर न हमारे पुरखों ने दिया था और न हम देंगे । यह हमारी आन और शान का प्रश्न है ।"

"हो सकता है महाराजा, लेकिन मैंने सुना है कि कर्मवीर शूरवीर इस नगर की गद्दी का स्वामी दुबारा शादी किसी कारण-वश करता है ।"

"कारण समझा सकती हो ?" बीच में ही बोल पड़े महाराजा ।

"अनुभव कहता है या तो रानी में बीज धारण की शक्ति न हो या वह अंगहीन हो अथवा छोटे खानदान की ; पर मुझ में सभी गुण हैं ।"

"गुण इतिहास की वस्तु है, हमारे विलास की नहीं । हम शादी करेंगे, जरूर करेंगे ।"

महाराजा तुरन्त कमरे के बाहर चले गये ।

इसके बाद महाराजा की दूसरी शादी भी हो गई । वीणा ने अपनी भूल की क्षमा माँगली पर महाराजा राजी नहीं हुए । उन्होंने उसे 'हागण' (परित्यक्ता) घोषित कर दिया । उसकी सेवा के लिए जयमाला को नियुक्त कर दिया । जयमाला जैसी बेकार, कुरूप और ढीली-ढाली दासी की जरूरत महाराजा को न थी । उन दिनों जयमाला की हालत बड़ी चिंताजनक थी । उपेक्षा, दुत्कार और ताने ! जीना दूभर और जिंदगी विषाक्त । भाग्य से महाराजा ने दूसरी शादी की और जयमाला को सुख की रोटी मिलने लगी ।

वीणा की टहल-चाकरी में जयमाला ने अपना तन और मन लगा दिया । वीणा खुश हो उठी । एक दिन वीणा की मेधावी नारी जाग उठी । बोली, "माला, तू कितनी चोखी है !"

"मैं आपके चरणों की रज हूँ, रानी सा, आपकी कृपा से मुझे सुख की रोटी मिलने लगी ।" जयमाला की आँखें सजल हो उठीं ।

"पर तू कुँवर का बड़ा ध्यान रखती है। माँ तो मेरी जगह तुझे होना चाहिये था। कितनी ममता, कितना लाड़, कितना लगाव !"

"यह तो मेरा फर्ज है रानी सा ! जिसकी खाती बाजरी, उसी की भरती हाजिरी।"

"लो, यह इनाम लो।" कहकर रानी ने उसे एक कम कीमत का हार दिया। हार लेकर जयमाला प्रसन्न हो गई। एकांत में जाकर उसे पहना, अपने आपको शीशे में देखा और फिर अपने पर खुद मोहित हो गई। उन मुग्धता के क्षणों में जयमाला को ऐसा लगा कि संसार का ऐश्वर्य उसके चरणों में है, तीनों लोक की निधि आज उसके पास है। रानी की प्रसन्नता प्रभु की प्रसन्नता से कम थोड़े ही थी।

विचारों में मग्न जयमाला बैठी रही।

चाँद अपनी किरणों को समेटकर डूब रहा था। भोर का तारा आकाश की ओर बढ़ रहा था। प्राची की ओर छाई घनी कालिमा के साम्राज्य को ढाहती हुई ऊषा की रक्ताभा उभरने लगी थी। जयमाला ने सावधान होकर कहा, "ओह ! भोर हो गया है। कितना काम करने को पड़ा है ?"

× × ×

उस रात रावले में बड़ी विचित्र घटना घटित हो गई।

जब वीणामती संध्या की पूजा करने के लिए ठाकुर-द्वार गई तब महाराजा से उसकी भेंट हो गई। महाराजा दर्शन में दत्तचित्त थे और रानी ने विह्वल होकर उनके चरण छू लिये। महाराजा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे नेत्र मूँद जाप करने में मग्न रहे।

रानी एक ओर खड़ी हो गई।

महाराजा ने नेत्र खोले। साष्टांग प्रणाम किया और रानी की ओर बिना देखे ही वापस लौट पड़े।

"महाराजा !" हल्की-सी आवाज रानी के मुँह से निकली जो महाराजा के कान तक नहीं पहुँच पाई।

रानी अपमान के मारे जल उठी। उसके रोम-रोम में आग-सी लग गई। उसने सोचा कि महाराजा के चरण पकड़कर अपना सिर फोड़ ले और उस खून से पत्थर-से कठोर हृदय को पिघला दे। पर वह ऐसा नहीं कर सकी। वह विवश-सी वहीं खड़ी रही। अश्रु बह रहे थे और बरौनियाँ भीग गई थीं। एक-दो धारा गालों पर अपना चिह्न छोड़ती हुई अंगिया में लुप्त हो गईं।

जयमाला अचल खड़ी रही।

उसके हाथ में पूजा की थाली थी।

उसने धीरे से कहा, "महारानी सा!"

महारानी ने कोई उत्तर नहीं दिया। चल पड़ी।

जयमाला पीछे-पीछे थी। सोच रही थी, कितने कठोर हैं महाराजाधिराज, औरत जात के मर्म को समझते ही नहीं। ऐसी भी क्या बे रुखाई? ऐसा भी क्या रूठना? उसे गुस्सा आ गया। गुस्से ने उसे अंधा कर दिया।

ड्योढ़ी आ गई थी। वहाँ अंधकार था। सावधानी से न चला जाय तो ठोकर लगे बिना न रहे।

जयमाला को ठोकर लगी। थाली झन्न की आवाज़ के साथ गिर पड़ी। काँसे की बनी थाली, इसलिये उसका कम्पन क्षणिक रहा।

रानी ने गर्जकर कहा, "यह क्या किया तूने चुड़ैल?"

जयमाला सिर से पाँव तक काँप उठी।

"आँखें बंद करके चलती है। कुलक्षणी कहीं की, मेरी पूजा भगवान् ऐसे ही स्वीकार नहीं करते हैं, फिर तू···।"

रानी ने चाँटा मारने के लिए अपना हाथ उठाया। जयमाला अपराधी की तरह सिर नीचा करके खड़ी हो गई। रानी पिघल उठी। नारी की अव्यक्त वेदना कमजोर हो गई। आत्मीयता से बोली, "देखकर हमेशा चलना चाहिये, भगवान् ने तुम्हें देखने के लिये ही तो आँखें दी हैं।"

जयमाला ने लपककर रानी के पाँव पकड़ लिये।

रानी ने उसे उठाते हुए कहा, "उठ पगली, चल महल में। कुँवर उडीक (प्रतीक्षा) रहा होगा ?"

जयमाला रानी के पीछे-पीछे चल पड़ी।

× × ×

कुँवर आकुलता से द्वार की ओर निहार रहा था।

रानी के कदमों की आहट पाकर वह द्वार की ओर बढ़ा और माँ की छाती से लिपट गया।

माँ ने देखा—कुँवर की प्यारी आँखों में स्नेह की चिरन्तन शक्तिमय धारा प्रवाहित हो रही है, वह निश्छल मादक रस छलक रहा है जो जीवन के सभी दिगन्तों में अटूट बंधन की ज्योति विकीर्ण करता है।

"माँ सा, आप कहाँ चली गई थीं ?"

"पूजन को ?"

"मुझे नहीं ले गई ?"

"तू सोया हुआ था।"

'मुझे उठा देतीं ?"

"मैंने ठीक नहीं समझा।"

"क्यों ?"

"तू बहुत गहरी नींद सोया हुआ था।"

"गहरी नींद कैसी ?"

"गहरी नींद ?" माँ भौंचकी-सी अपने बच्चे को देखती रही। संभल कर बोली, "गहरी नींद ऐसी, जब आदमी उसमें मीठे-मीठे सपने देखा करता है। दुःख, व्याधि, सन्ताप, पीड़ा सभी से छुटकारा पाकर नींद में मुस्कराता है।"

कुँवर के होठों पर बिजली-सी खुशी की रेख चमक उठी।

माँ ने दासी को आज्ञा दी, "जयमाला ! थाल परोस कर ला अपने कुँवर सा के लिए।"

जयमाला ने उत्तर में कहा, "लाई रानी सा।"

रात का गहरा अंधकार। सन्नाटा और सन्नाटे की साँय-साँय। मालूम होता था कि सृष्टि का सारा सन्नाटा एकत्र होकर रानी के कक्ष में आ बैठा है और बैठकर रानी के हाहाकार करते हृदय को मजबूर कर रहा है कि तू न रो।

कुँवर ने माँ का हाथ पकड़कर कहा, "माँ सा! आप नहीं खायेंगी?"

"नहीं बेटा!"

"क्यूँ?"

"यूँ ही?"

"यूँ ही क्यूँ?"

"भूख नहीं है।"

"भूख क्यूँ नही है?"

"पेट में दर्द है।"

"माला! ड्योढीदार से जाकर कह कि माँ सा के लिये डाक्टरनी भेजे। उनके पेट में दर्द है।" कुँवर ने थाल को आगे सरकाते हुए कहा।

अटूट वेदना का उजागर सम्मोहन वीणा के नयनों में चमक उठा। वात्सल्य का महा मानवीय रूप आँखों में जीवन्त हो गया। स्नेह-सिक्त स्वर में वीणा बोली, "थाल क्यों सरका दिया कुँवर?"

"मुझे भूख नहीं है।"

"देखो कुँवर, हठ करना अच्छा नहीं है। मैं तुम्हें सोने का ऊँट बना कर दूँगी। अब तो खा लो।"

"मैं नहीं खाऊँगा।" उसने हठात् कहा।

"क्यों नहीं खायेगा?" ममता-भरी सूखी मुस्कान वीणा के अधरों पर नाच उठी। कुँवर के समीप आकर लाड़ से बोली, "माँ का कहना नहीं मानेगा?"

"साचेई (सचमुच) मेरा जी अच्छा नहीं है।" कुँवर की प्यारी आँखों में गंभीरता के दर्शन हुए।

वीणा हँस दी।

"माँ से बहाने करता है।"

"नहीं।"

"झूठा कहीं का।" उसने थाल में से कौर उठाकर कुँवर के मुँह में डालना चाहा। कुँवर कुछ देर तक आनाकानी करता रहा। अन्त में माँ ने यह विश्वास दिलाया, "मैं भी खाना खालूँगी" तब कुँवर ने थाल अरोगा।

वीणामती फिर दुश्चिंताओं के अन्त-हीन आवर्त्तों में भटकने लगी। उस आवर्त्त में उसका सिंधुत्व-सा पौरुष लघुत्व में बदल जाता है और वह दुश्चिंता दुर्हरण पुरुष की तरह उसके सभी सुखद क्षणों को समाप्त कर देती है।

वीणामती सोच रही थी, महाराजा ने उसका घोर अपमान किया है। पुत्र को जन्म देने वाली जननी की यह उपेक्षा उसके दुर्दिन की अंतिम और चरम सीमा है। नई रानी के सौंदर्य में मुग्ध महाराजा अपना कर्त्तव्य क्यों भूल रहे हैं? क्या मैं इतनी बुरी हूँ कि महाराजा मुझे एक नजर देख भी नहीं सकते? धिक् है, ऐसे जीवन को! इससे अच्छा है कि मैं मर ही जाऊँ। अपमान भरा जीवन गढ़ में मृत्यु के समान है। ...मैं...।"

जयमाला ने आकर खबर दी, "राणी सा को खम्मा, कुँवर सेजा पौढ़ गये हैं। आपके लिए थाल लाऊँ?"

राणी सा ने कोई उत्तर नहीं दिया।

जयमाला मौन को स्वीकृति समझकर थाल लाने चली गई।

रानी अपमान की आग में जल रही थी। उसका नारीत्व कसमसा-कर विद्रोह करना चाहता था। युगों से गढ़ की दीवारों में बंदिनी बनी नारी एक बार अपराजिता होकर अपना अधिकार माँगना चाहती थी।

सदियों के पहले मातृ-सत्तात्मक युग को वापस लौट जाना चाहती थी, जहाँ नारी-जीवन, यौवन, भोग और तृष्णा नर द्वारा अवरुद्ध नहीं थी। जहाँ नारी की वासना स्वामित्व के पद पर आसीन होकर आज्ञा दिया करती थी, स्वच्छंद कुलांचें भरा करती थी। जहाँ चाँद की रेशमी किरणों के अदृश्य झूले में नारी का मन नर को अखंड क्षणिक प्यार का घूँट पिलाकर महासमर्पण किया करता था। जहाँ उसका यौवन पार्वतीय बयार के हलके-हलके झोंकों में अलौकिक सुख की अनुभूति का आनंद लूटकर नर पर शासन किया करता था।

चिर-मुक्ति, चिर-उन्माद और चिर-तृप्ति !

पर आज !

आज नारी का यौवन मुक्ति का आह्वान नहीं कर सकता। गुलामी के शिकंजों में जकड़ा उसका नारीत्व शौर्यहीन हो गया है। वह कमजोर हो गई है। विषाक्त जीवन का गरलपान कर मृत्युञ्जयी बनना अब उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात हो गया है। अब वह अनादर के कड़वे घूँट पीकर भुजंगिनी की तरह फूत्कारती है और धीरे-धीरे अपने अन्तर के उठते हुए विद्रोह के अंगारों को ठंडा कर लेती है।

नारी कमजोर है क्योंकि उसमें वसुन्धरा के अंतराल का स्नेह, प्यार, वात्सल्य, ममता और अपनत्व अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ आज विद्यमान है। वह वसुन्धरा की भाँति महान्, सहिष्णु और विशाल हो गई है। इस विराट में उसका निजत्व लुप्त हो गया और निजत्व की अनुभूति पर अब वह केवल आँसू बहाया करती है।

रानी बहुत दुर्बल है।

तृष्णा की अतृप्ति पर उसका रोम-रोम दारुण व्यथा से कराह उठता है फिर भी वह खामोश है। इस पीड़ामय जीवन से वह पलायन करना चाहती है लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकती। क्योंकि वह वसुन्धरा है और वसुन्धरा ने सदैव 'निजत्व को खोकर ही अपनत्व पाया है—दूसरों का।

वीणामती सोचने लगी, 'मैं आत्महत्या कर लूँ ? क्या रखा है इस जिंदगी में ? पीड़ा, दुख और अपमान ! पर मेरा कुँवर ? हाँ, मेरे बाद जरूर मेरे कुँवर को विमाता ज़हर देकर मार देगी तब ?···नहीं, मुझे जीवित रहना होगा। मैं जीऊँगी। अपमान का ज़हर पीकर भी जिंदा रहूँगी।'

जयमाला थाल ले आई थी।

वह खड़ी-खड़ी रानी के मुख को देख रही थी।

रानी के चेहरे पर उठते-मिटते भावों के संघर्ष का अध्ययन करना उसके बूते के सर्वथा बाहर था फिर भी वह कोशिश कर रही थी और समझ रही थी कि रानी सा उद्विग्न है, उदास है, परेशान है।

उसने बड़ा साहस करके कहा, "रानी सा ! थाल तैयार है ?"

रानी निरुत्तर रही। उसकी आँखों में तरलता चमक उठी।

"खम्मा रानी सा ! थाल तैयार है।"

"मैं आज ··, माला !" रानी ने बात को बदलते हुए विनीत स्वर में कहा, "आज मेरा दिल अमूज (घुट) रहा है।"

"रानी सा ! थोड़ा-बहुत खा लीजिये, तबीयत ठीक हो जायेगी, मन अच्छा हो जायेगा।"

"क्या खाऊँ माला, मैं इस राज्य की महारानी हूँ, होने वाले महाराजा की माँ हूँ, पर देखो भाग्य के चक्र, महाराजा का अपना कुत्ता भी आकर हमें नहीं सूँघता।"

जयमाला इस प्रश्न का क्या उत्तर देती ? सिर झुकाकर चुपचाप खड़ी रही।

"माला ! तू मुझे साचेई चाहती है ?"

"हाँ रानी सा, अपने जी की सौगन्ध। मेरा आपके सिवाय यहाँ कौन है ? कल आपको कुछ हो जाय तो परसों मुझे··हे राम ! भगवान करें कि आपकी उम्र चाँद जैसी हो।"

"मैं तो चाहती हूँ कि अब भगवान् मुझे अपने पास बुला ले।"

"ऐसे अणूते (अनुचित) बोल मुँह से मत निकालिये, रानी सा ! आपके बाद मुझ गरीब का क्या होगा ? कुतिया की तरह हरएक मुझे मारेगा, डाँटेगा। इस घिसे पुर्जे को कौन सँभालेगा ?"

"ईश्वर !"

"नहीं रानी सा, यदि आपको भगवान् ने उठा लिया तो मैं आपके साथ जल मरूँगी। मैं आपके बाद किसके सहारे जिंदा रहूँगी ? इस गढ़ में मुझे सूखा टुकड़ा तक डालने वाला कोई नहीं है।"

माला अपने नारकीय जीवन की कल्पना मात्र से चीत्कार कर उठी।

रानी फिर चुप हो गई।

जयमाला ने देखा, रानी की भौंहों में बल पड़ रहे हैं। मुख गुस्से के मारे भयानक हो रहा है। आँखों में खून उतर आया है।

जयमाला सहमकर एक ओर खड़ी हो गई।

रानी ने थाल को ठोकर मारकर कहा, "मैं नहीं खाऊँगी, नहीं खाऊँगी, नहीं खाऊँगी।"

थाल के गिरने की झंकार से एक बार कमरा गूँज उठा और बाद में एक असह्य खामोशी छा गई।

स्त्री के पीछे स्त्री सती

सवेरा हुआ।

नयी ऊष्मा भरी किरणें गढ़ के कंगूरों को चूमती हुई मैदान में फैल चुकी थीं।

जयमाला कुँवर के पाँव दबा रही थी। रानी का हुक्म था कि

हर सवेरे कुँवर के पाँव दबाये जायें और जयमाला अपने कर्तव्य के प्रति बड़ी सजग थी।

तभी रानी के कराहने की आवाज आई।

जयमाला सोये कुँवर को छोड़कर रानी की ओर भागी।

रानी अपने दिल पर हाथ फेरती हुई कह रही थी, "उफ, जी निकल रहा है, माला, जा महाराजा को बुलाला।"

माला ने जाकर ड्योढ़ीदार से कहा, "रानी सा की तबीयत एकाएक बहुत खराब हो गई है। उनसे अरदासना कीजियेगा कि उन्हें अभी रावले में बुलाया है।"

माला ने आकर रानी को सांत्वना दी।

रानी की हालत बिगड़ती जा रही थी। बड़ी मुश्किल से उसने जयमाला से कहा, "कुँवर को ला···।"

जयमाला कुँवर को लाई।

कुँवर अकचका-सा माँ के पास आकर उतावली से बोला, "क्या हो गया आपको माँ सा ?"

"उफ ! जी निकल रहा है। ऐसा लगता है जैसे कि कोई मेरा गला दबा रहा है।"

"माँ सा !"

"कुँवर ! हुशियार रहना, मेरे बाद तेरा इस संसार में कोई नहीं है, सिवाय इस जयमाला के···?"

जयमाला फफककर रो पड़ी, "नहीं रानी सा, मैं आपके साथ मरूँगी। मुझे आपके बाद छाती से कौन लगायेगा।"

"कुँवर।"

"नहीं रानी सा ?" कहकर जयमाला सिसक-सिसककर रो पड़ी। उसकी आँखों के आगे अन्धकार छा गया। भविष्य की यातना, दुर्दिन के कष्ट, गढ़ का अत्याचार ! वह विमूढ़ हो गई।

कुँवर ने रोते हुए कहा, "माँ सा ! आप अच्छी हो जायेंगी, आपके साथ···।"

"नहीं बेटा, तू इस राज्य का राजा है। मेरा नाम तू ही रौशन करेगा बेटा, हिम्मत और हुशियारी से काम लेना।"

कुँवर माँ के गले लग गया।

रानी ने उसे बड़े प्यार से चूमा। उस चुम्बन में ममता का अन्तिम उत्सर्ग था।

तभी ड्योढ़ीदार ने आकर निवेदन किया, "खम्मा राणी सा ! महाराजा ने डाक्टरनी को भेजा है।"

"आप नहीं पधारे ?"

"वे विलास-भवन में नई रानी के साथ हैं।"

"नई रानी के साथ ! वीणामती ने निचला होंठ काटते हुए तीखे स्वर में कहा, "इस, चुडैल (डाक्टरनी) को भी विलास-भवन में ले जाओ। मुझे इसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं यूँही सड़-सड़कर मर जाऊँगी। ले जाओ इसे, मैं कहती हूँ—दूर कर दो मेरी नजरों से। एक-एक को देख लूँगी मरने के बाद। कह देना माला अपने महाराजा से, मरकार भी आपको सुख नहीं लेने दूँगी। कह देगी न ?"

जयमाला ने हाँ का संकेत किया।

रानी का सिर लुढ़क गया।

कुँवर रो पड़ा।

हवा की भाँति यह समाचार गढ़ में फैला।

बड़ी धूमधाम से रानी की दाह-क्रिया का प्रबन्ध किया जाने लगा।

शहर से लगभग चार-पाँच कोस के फासले पर राजाओं एवं राजवी सामन्तों के श्मशान थे। वहाँ उनकी कलात्मक छतरियाँ बनी हुई थीं।

वीणामती के शव को गुलाबजल और चन्दन से नहलाया और सजाया गया।

तभी मनोहरसिंह ने घबराये हुए स्वर में कहा, "जयमाला को सत्

चढ़ गया है। वह महारानी सा के साथ सती होवेगी।"

"क्या कहा ?" महाराजा एवं नई रानी रंगराय ने चौंककर कहा। उनके नेत्र विस्फारित थे।

"मैं सच कह रहा हूँ माई-बाप, वह रानी सा के संग सती होयेगी। उसने यह बिलकुल निश्चय कर लिया है।"

रंगराय जयमाला के कक्ष की ओर भागी।

जयमाला सोलह-श्रृंगार करके तैयार हो गई थी। रानी रंगराय को देखते ही उनके चरणों में गिर पड़ी। विनती-भरे स्वर में बोली, "रानी सा! कसूर माफ करीजो, मैं रानी सा को वचन दे चुकी हूँ कि मैं आपके साथ जलूँगी। भगवान् ने भी मेरी पत रखली। मुझ में वह साहस, वह धीरज और वह धर्म पैदा हो गया है जो एक सती में होना चाहिये। आप मुझे मत रोकीजो। नहीं तो, मैं भी आपको बड़ी महा-रानी सा की तरह शाप दे दूँगी।"

नई रानी भीरु विचारों की थी। डर गई। सहमकर बोली, "नहीं, मैं तुझे नहीं रोकूँगी। भगवान् तेरी पत रखे।"

जयमाला के होंठों पर अप्रतिम गौरवपूर्ण मुस्कान नाच उठी। उल्लास की ऊर्मियाँ उसकी आँखों में तैर उठीं।

पर रानी रंगराय का मुँह उतर गया।

हिचकते हुए बोली, "महारानी सा ने हमें क्या शाप दिया ?"

"शाप!" उसने चौंककर कहा, "उन्होंने कहा कि मरने के बाद आपको कभी चैन नहीं लेने दूँगी। डायन की तरह सदा पीछे रहूँगी।" जयमाला एकदम गुस्से में भर उठी जैसे वह स्वयं यह शाप दे रही हो।

रंगराय का बुरा हाल था। काटो तो खून नहीं। अंधविश्वासों में जकड़ा उसका मन काँप उठा। चेहरे पर स्वेद-कण उभर आए। वहाँ से ऐसे लौटी जैसे अपना सर्वस्व हारकर लौट रही हो।

महाराजा उद्विग्न थे। परेशान थे। रानी रंगराय को देखते ही झपटकर बोले, "यह कैसे हो सकता है ?"

"क्या ?"

"कि रानी के साथ उसकी दासी भी सती हो ।"

"यह सत् चढ़ने की बात है ।"

"पर ऐसा कभी नहीं हुआ ।"

"होती तो बहुत-सी बातें नहीं हैं । लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जो होने वाली है उसे रोक दिया जाय ।"

"हमारे खानदान में ऐसी घटना नहीं हुई । स्त्री के पीछे स्त्री का सती होना, कौन-से धर्म में लिखा है ।"

"धर्म में बहुत-सी बातें लिखी हुई नहीं होतीं । इसका मतलब यह नहीं हुआ कि आप आत्मा के सच्चे प्रेम को न मानें । जयमाला रानी-सा को बहुत चाहती है । उनकी सेवा को ही अपना जीवन मानती है । अब आप बताइये कि ऐसी भक्ति करने वाली भक्तिन अपने भगवान् के बिना कैसे रह सकती है !"

"तुम बकवास करती हो ?" महाराजा एकदम झल्लाये ।

"यदि आप इसे बकवास समझेंगे तब मैं कहूँगी कि सती के शाप से आपका यह राजमहल टूट-टूटकर चकनाचूर हो जायेगा । बड़ी रानी सा भी हमें शाप देकर मरी है ।" रानी रंगराय की आँखों में भय चमक रहा था । उसकी मुद्रा से ऐसा लग रहा था कि रानी का शाप अब उसे चैन नहीं लेने देगा । अब उसे सुख-संतोष की साँस मयस्सर नहीं होगी ।

रानी रंगराय की वाणी में जो सत्य था, उसने महाराजा को भी दुर्बल कर दिया । महाराजा पराजित-से बोले, "यह अनहोनी आज होनी का रूप धारण कर रही है । प्रभु जो करता है अच्छा ही करता है ।"

अर्थी रवाना हुई ।

बाजे बजे ।

श्मशान घाट पर पहुँचने के बाद चिता सजाई गई। काफी भीड़ जमा हो गई थी। भीड़ में चर्चा थी—

"ऐसा हमने आज तक नहीं देखा।"

"कलयुग है।"

"हाँ भाई, यह कलयुग क्या न दिखा दे।"

"अरे इसमें दुख करने की क्या बात है ?"

"दुःख कौन करता है, अचरज करते हैं कि ऐसा आज तक नहीं हुआ। रानी के साथ दासी सती ? आश्चर्य, घोर आश्चर्य !"

"बुद्धू कहीं का, इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है ? सत् चढ़ने की बात है। सत् किसी को भी चढ़ सकता है। जानते नहीं, पशुओं और पक्षियों को भी सत् चढ़ता है।"

"यह दासी रानी सा को बहुत चाहती थी।"

"तभी सती हो रही है।"

चिता तैयार हो गई थी।

जयमाला ने चिता की गोद में बैठने के पूर्व एक पल के लिए अपने विवर्ण मुख, और उदास, भारी पलकों को उठाकर भीड़ को देखा। अंतस् का अवसाद अन्तराल के गर्भ को विदीर्ण करके मलीन मुख पर छा गया था। एक विचित्र व्यथा का सामंजस्य उसकी आँखों में बोल रहा था—

मरण का कृत्रिम उत्साह !

जीवन का महा मोह !!

युगों से शापित-पीड़ित इस गढ़ की एक गुलाम ने अपने दुखी जीवन के छुटकारे का पलायनवादी नया दृष्टिकोण अपनाया कि स्वामी के साथ अपना भी अस्तित्व मिटा देना।

वह मिट गई।

भीड़ ने उसका जयघोष किया।

बड़े-बड़े उमरावों, सरदारों एवं सामन्तों ने उस सती के समक्ष अपने सिर झुकाये ।

वाहरी दुनिया ! ! कल तक तू जिसे पल भर के लिए चैन की साँस नहीं लेने देती थी, आज तू उसके सामने अपना शीश झुका रही है । कितनी सरल रीत है तेरी । तू चाहे तो दैत्य को देवता और देवता को दैत्य पल भर में बना सकती है ।

चिता जल गई ।

जयमाला का मौन आर्तनाद उन छतरियों के गुम्बदों और बेर की झाड़ियों से टकराता रहा ।

× × ×

दस दिन बीत गये ।

नई रानी रंगराय उस दिन के बाद सुख की नींद नहीं सो सकी । उसे हर क्षण वीणामती का विकराल रूप दीखता रहता था और वह प्रमाद की अवस्था में कह उठती थी, "मैं बेकसूर हूँ राणी सा ! मैंने कुछ नहीं किया । मैंने आपको नहीं मारा । महाराजा स्वयं आपके पास नहीं आते थे ।...मैं सच कह रही हूँ ।"

कभी-कभी रंगराय नींद में हड़बड़ा कर घुटे-घुटे स्वर में बोल उठती थी, "मेरा गला न दबाओ, मैं बेकसूर हूँ ।"

महाराजा चिंतित और परेशान ।

ओझाओं को बुलाया गया । मंत्रों की गगनभेदी आवाज से अन्त:पुर गूँज उठा । आश्वासन दिया गया कि भविष्य में रानी सा को कुछ भी नहीं होगा, वह केवल डर गई है ।"

ओझा लोग चले गये ।

संध्या हो रही थी । दास और दासियाँ अपने-अपने कार्य में संलग्न थे ।

महाराजा के भारी कदम कुँवर के महल की ओर उठ रहे थे । दास ने आकर खबर दी थी कि कुँवर अपनी माँ का याद में रो रहा

है। धाय माँ वृजा उन्हें समझा-समझा कर हार चुकी है।

महाराजा को देखते ही कुँवर उनसे लिपट गया।। उसकी आँखों में अश्रु थे।

महाराजा ने उसे पुचकारा और कहा, "घबराने की कोई बात नहीं है कुँवर, धाय माँ बड़ी अच्छी है, तुम इसे अपनी ही माँ समझो।"

कुँवर कुछ देर महाराजा की गोद में सिसकियाँ लेता रहा और अन्त में सो गया।

महाराजा अपने शयनकक्ष में पधारे।

रंगराय की तबीयत आज स्वस्थ थी। उसने प्रसन्नचित्त से महाराजा की अगवानी की। महाराजा ने मुस्कराकर कहा, "आज आप बड़ी खुश नज़र आ रही हैं।"

"हाँ, आज मेरा जी अच्छा है।"

"मेरा विचार है, हम तीर्थ-यात्रा कर आयें। आपका मन बहल जायेगा और हवा-पानी भी बदल जायेगा।"

"हाँ, मैं भी यही चाहती हूँ अन्नदाता।"

"फिर कल ही मैं दीवान जी से कहकर यात्रा का प्रबन्ध करवाता हूँ।"

महाराजा ने समीप पड़े शराब के प्याले को उठाया और पीकर रानी से आमोद-प्रमोद करने लगे।

रानी उन्हें पिला-पिलाकर मदहोश कर रही थी। महाराजा के आग्रह पर रानी ने भी दो-चार पैग पी लिये। पीकर जब वह भी मदहोश-सी हो गई तब उसने सेवा में खड़ी दासियों को जाने की आज्ञा दे दी।

दासियाँ चली गईं।

कक्ष में गहरी शून्यता छा गई। उस शून्यता में कभी-कभी रानी का टूटता स्वर गूँज कर कम्पन पैदा कर देता था।

अचानक तूफान उठा।

खिड़की की राह हवा के तेज झोंके ने कक्ष के बिजली के बल्बों को हिला दिया। रानी काँप कर उठ गई जैसे वह कोई स्वप्न देख रही हो। उसने आँखें फाड़कर खिड़की की राह देखा। एक युवती की छाया वहाँ चल रही है।

उसने पागल की तरह धीरे-धीरे गर्दन घुमाकर स्थिर नजर से उस ओर देखा। पलकों को झपकाया, मला।

धीरे-धीरे अपने आप से कहने लगी, "महारानी सा !" और उसके कानों में अट्टहास गूँज उठा। उसने अपने कान बन्द कर लिये। नेत्र बन्द कर लिये। फिर उसने अपनी आँखें और अपने कान खोले।

खिड़की की छाया स्पष्ट हो गई थी।

सुन्दर गौर वर्ण !

लहराता यौवन !!

काले, घुँघराले, खुले कुन्तल !!!

रंगराय ने अपने विचारों को और केन्द्रित किया। उसे सुनाई पड़ा कि रानी गुस्से में लाल-पीली होकर कह रही है, 'तूने मुझसे मेरा पति छीना, तूने मेरे सुखी जीवन में आग लगाई, तेरे कारण मेरा जोबन तिल-तिल जलता रहा। अब मैं तुझे एक पल भी चैन नहीं लेने दूँगी। तुझे भी शय्या का सुख भोगने नहीं दूँगी।'

रंगराय बोलना चाहती थी पर उसे महसूस हुआ जैसे कोई उसका गला टीप रहा है। उसकी आँखों में पानी आ गया। घिग्घी बंध गई। उसने महाराजा को जगाना चाहा पर वह नहीं जगा सकी। उसे अपनी नस-नस बेकाम जान पड़ी।

अन्तर का भय बढ़ता गया। रानी विमूढ़ हो गई।

तूफान बढ़ता गया।

अचानक स्विच उडने की आवाज आई और कमरे में घोर अन्धेरा छा गया। रानी यंत्रवत् उठने लगी। तभी पलंग हिलने लगा। रानी बिलकुल डर गई। वह अर्धचेतन-सी पलंग पर गिर पड़ी।

थोड़ी ही देर बाद धड़ाम की आवाज आई।

राजाजी चीख पड़े।

क्रोध से बोले, "अन्धेरा क्यों ?"

दासी दौड़ी-दौड़ी आई। खटके किये पर रोशनी नहीं हुई।

महाराजा फौस गालियाँ बकने लगे।

मिस्त्री ने आकर स्विच ठीक किया। कक्ष में प्रकाश हो गया।

महाराजा ने देखा कि रंगराय एक कोने में दबकी पड़ी है। वह कांप रही है—पतझड़ के पत्ते की तरह। उसने आँखें इस तरह बन्द कर ली हैं जैसे कोई राक्षसिनी उसके सम्मुख अपने विकराल रूप में खड़ी हो।

महाराजा ने रानी का हाथ पकड़ते हुये पूछा, "यह पलंग किसने उल्टा किया ?"

रानी ने बोलना चाहा पर केवल उसके होंठ फड़ककर ही रह गये।

"बोलती क्यों नहीं ? आप गूँगी हो गई हैं ?" महाराजा झल्ला रहे थे।

रानी ने हाथ के संकेत से समझाया कि वह कुछ नहीं जानती।

तुरन्त ओझा को बुलाया गया।

ओझा ने मंत्र का पानी पिलाया। रानी स्वस्थ हो गई।

स्वस्थ होकर रानी ने सारा किस्सा सुनाया। किस्सा सुनकर ओझा बोला, "महाराजा, रानी सा को असमय द्वागपन मिलने के कारण उनकी अभिलाषाएँ अधूरी रह गई हैं। सेज का सुख पूरा न मिलने के कारण वे महल के चारों ओर भटकती रहती हैं। आप उनकी आत्मा को यज्ञ-हवन द्वारा शान्ति पहुँचाएँ और उनको "गया" तीर्थ में पधरवायें। इससे उनकी आत्मा मुक्त हो जायेगी। भव-बन्धनों से छुटकारा पा जायेंगी।"

दूसरे ही दिन महाराजा ने महारानी सा के "फूल" गया के लिये रवाना कर दिये और स्वयं रंगराय को लेकर तीर्थयात्रा को निकल पड़े।

आदमी : एक खिलौना

"गोली मारूँगा।"

"नहीं, कुँवर सा।"

"क्यों ?"

"बेचारा हजारी मर जायेगा।" वृजा ने करुणा-भरे स्वर में कहा। वह भयाक्रान्ता-सी कुँवर मानसिंह की ओर देख रही थी।

कुँवर के माथे में बल पड़ गये।

गुस्से से बोला, "धाय माँ, हमारी गोली उसके सिर पर रखी सेब को ही लगेगी, हजारी को नहीं।"

"फिर भी···!" वृजा कहती-कहती चुप हो गई।

कुँवर गुस्से में भर उठे। दूध के गिलास को दीवार पर फेंकता हुआ बोला, "यदि तू हमारा कहना नहीं मानेगी तो हम महाराजा साहब को जाकर अभी कह देंगे।"

वृजा डर गई।

वह जानती थी महाराजा का गुस्सा! सुनेंगे तो न जाने क्या करेंगे। कुँवर को रोकती हुई बोली, "मान जाइये, मेरे लाड़ले कुँवर सा!"

"हम नहीं मानेंगे।"

"फिर पहले आप दूध पी लीजिये, इसके बाद आप गोली का निशाना लगायें।"

"अच्छा।"

कुँवर ने पिस्तौल रख दी।

बूजा दूध लेने के लिए चली गई।

दोपहर का समय था।

मरुभूमि की जलती हवा कभी-कभी खस की टट्टियों को भेदकर कमरे में आ जाती थी। द्वार की ओर सूरज की किरणें चमकदार किवाड़ों को चूमती हुई कमरे में लघु रूप में बिखर रही थीं।

छः साल होने को आये थे। इन छः सालों में बूजा ने अपनी अन्तड़ियों का रक्त अपने कलेजे के टुकड़े को न पिलाकर मानसिंह को पिलाया। ममता ने अपने ममत्व के रोदन को अनसुना करके कर्त्तव्य को अपनाया। अपने आँचल में अपने फूल को पनाह न देकर दूसरे फूल को पाला। यह धरित्रा की महानता है, यही किराये की माँ की वफादारी है।

बूजा यह भी भली-भाँति जानती थी कि वह दासी है, इसीलिए उसे दूसरों के इशारे पर चलना पड़ता है। दूसरों का हुक्म मानना पड़ता है। उसके बच्चे को भूठन, उतरन और दया पर रहना पड़ता है। फिर भी उसे संतोष है, सुख है क्योंकि उसकी सेवाओं से महाराजा श्री प्रसन्न हैं।

बूजा का लड़का हजारी है।

हजारी और कुँवर हम-उम्र हैं। साथ खेलते हैं, साथ उठते-बैठते हैं।

कभी-कभी बूजा सोचने लगती है—'हजारी और कुँवर, कुँवर और हजारी! दोनों एक से, समान रंग, समान कपड़े, समान बोली और समान चाल-ढाल।

फिर भी भाग्य का अन्तर?

एक राजा और एक चाकर !

कितना अच्छा होता कि हजारी कुँवर होता और कुँवर हजारी ? इस विचार से वह अभिभूत हो उठी। उसका दिल भर आया। वह विचारने लगी, 'मेरा हजारी कुँवर होता और मैं रानी होती। यह गढ़, इस गढ़ की दौलत, सुख, विलास सबके सब अपने होते, मजा आ जाता। हमें कोई नहीं डांटता, हमें कोई नहीं आँखें दिखाता, हमें कोई नहीं छोटा समझता। हम निकलते, गढ़ झुक जाता, हम बीमार पड़ते, गढ़ घबरा जाता। क्या शान होती ?'

बृजा कल्पना के अनन्त पथ पर भागती रही। दूभर जीवन का काल्पनिक आँचल सुख के सुमनों और प्यार के तारों से भरा और जड़ा हुआ होता है। आदमी खुले दिल से उन्हें लूटता और लुटाता है।

बृजा दूध ले आई थी।

हजारी एक लट्टू को चला रहा था। बृजा ने उसे संकेत से बुलाया और कहा, "नीचे के दालान में चला जा।" हजारी चला गया।

बृजा ने समझा कि कुँवर अब गोली चलाना भूल गया होगा। वह दूध से सनी दीवार को साफ करने लगी। कुँवर घूँट-घूँट कर दूध पी रहा था।

उसने दूध ज्योंहीं खत्म किया त्योंही वह बोला, "धाय माँ, हजारी कहाँ है ?"

"काम से नीचे गया है।" उसने अनिच्छा से कहा और पुनः दीवार साफ करने लगी।

"वह क्यों गया है ?" उसने बिगड़कर कहा।

"मैंने भेजा है राजा बेटा !"

"तू ने क्यों भेजा ?"

"काम हो गया।"

"क्या काम हो गया ? तू नहीं जानती कि मैं गोली चलाऊँगा।" उसने अपने हाथ में पिस्तौल ले ली थी।

"ऐसा खेल अच्छे लड़के नहीं खेलते।" उसने उसे समझाते हुए विनीत स्वर में कहा।

"क्यों नहीं खेलते ?" उसने कड़ककर कहा, "कल मैंने जो सिनेमा देखा था, क्या उसमें वह राजकुमार इस तरह सेब को गोली से नहीं उड़ाता ?"

"वह सिनेमा है, उसमें सब झूठे होते हैं, बनावटी होते हैं। साचेई ऐसा थोड़ा ही होता ? यदि आप ऐसा करेंगे तो बेचारा हजारी मारा जायेगा, उसके लग जायगी।"

"देखो धाय माँ, मानो तो मानो नहीं तो मैं महाराजा साहब के पास जाता हूँ।"

बूजा निरुत्तर रही।

कुँवर महाराजा के पास गया।

महाराजा अपने विश्राम-कक्ष में चहल-कदमी कर रहे थे। बड़ी रानी वीरणामती के कोप से मुक्त होने के बाद नई रानी रंगराय पूरे महीने बैठी थी। घंटे, दो घंटे में उसके बच्चा होने वाला था। अतीव आनन्द की बात थी।

तभी कुँवर ने रोते हुए प्रवेश किया।

महाराजा ने उसे अपने सीने से चिपकाते हुए पुचकार कर पूछा, "क्या बात है कुँवर ?"

"धाय माँ मुझे गोली नहीं चलाने देती ?"

"क्या कहा ?" महाराजा चौंककर बोले, "वह तुम्हें गोली नहीं चलाने देती, क्यों ?"

"वह कहती है कि बेचारा हजारी मर जायेगा।" कुँवर ने आँखें मलते-मलते रोदन-भरे स्वर में कहा।

"मर जायेगा तो कौन-सा किला ढह जायेगा...। ड्योढ़ीदार चोरसिंह, जाओ उसे कहो कि राजपूत के बेटों के निशाने अचूक नहीं होते, और हो भी जायें तो क्या ? निशाना तो बंधता है...। यदि वह

हमारी आज्ञा न माने, उसे पकड़कर सौ जूते मारना। बदजात कहीं की, कुँवर को रुलाती है।"

चोरसिंह ने महाराजा की आज्ञा बृजा को सुना दी।

बृजा यंत्रवत कमरे के बाहर हो गई। आशंकाओं ने उसके हृदय को उद्वेलित कर दिया। न जाने वह रह-रहकर क्यों काँप जाती थी? उसे ऐसा लगता था कि क्षण भर में भयानक भूचाल आने वाला है, प्रचंड प्रभंजन में उसका सर्वस्व लूटा जाने वाला है। वह निराश्रय, निरुपाय, विवश-सी दिल थामकर गोली छूटने की प्रतीक्षा करने लगी।

कुँवर ने पिस्तौल को साधा।

हजारी काँप रहा था। मृत्यु उसकी नन्हीं-नन्हीं अँखियों में साकार हो उठी थी। चोरसिंह कुँवर का खेल देख रहा था--निष्प्राण-सा होकर। उसकी आँखों में भी वही करुणा थी जो आदि कवि बाल्मीकि के नेत्रों में क्रौंचवध पर उमड़ी थी। उससे न रहा गया। हाथ जोड़कर बोला, "कुँवर सा! बेचारा मर जायेगा।"

"कैसे मर जायेगा, मैं निशाना लगाना जानता हूँ।"

"तो···।"

"चुप रहो, मैं महाराज ··।"

"अच्छा लगाइये।" चोरसिंह ने परास्त होकर कहा। वह जानता था कि अब कुँवर नहीं मानने वाला है। महाराजा को कहना व्यर्थ है। वह नेत्र मूँदकर खड़ा हो गया।

कुँवर ने उसे देखा, "आँखें खोलो।"

चोरसिंह ने आँखें खोल दीं।

"इधर आओ।"

चोरसिंह अपराधी की भाँति भयभीत होता हुआ उसके पास गया। उसकी चेतना-शक्ति जड़ हो गई थी।

"यहीं से देखो।"

"जो हुक्म!"

कुँवर ने पिस्तौल को साधा।

हजारी तनकर खड़ा हो गया।

कुँवर ने कहा, "एक···दो···!"

हजारी चीख मारकर कुँवर के चरणों में लोट गया। मजबूती से पाँव पकड़कर रोने लगा। मुझे डर लगता है, मुझे डर लगता···है।"

कुँवर तमतमा उठा। यह गुस्ताखी उसके लिए असह्य हो उठी। जोर की उसके मुँह पर ठोकर लगाते हुए झुँझलाकर बोला, "उठ, जा खड़ा हो जा, नहीं तो जान निकाल दूँगा।"

हजारी सिसकियाँ लेता हुआ खड़ा हो गया। उसके पीछे खिड़की थी।

कुँवर ने फिर गिनना शुरू किया—एक···दो···तीन !···धाँय, चीख···धड़ाम्···!

"बेटा !" चीत्कार के साथ वृजा ने कमरे में प्रवेश किया। कमरा लहुलुहान हो गया। खून के कतरे इधर-उधर बिखर गये। कुँवर सन्न-सा देखता रहा जैसे उसका इन्सान जागा हो और कमरे के बाहर चला गया।

वृजा !

विदीर्ण अन्तराल के भावों को समेट वह रोदन कर उठी। मूर्तिमती करुणा हा हा का करुण आर्तनाद करके रोंगटे खड़े कर रही थी। ऐसा लगता था धरित्री की अतलांत में छिपा व्यथा का ज्वालामुखी फूट पड़ा हो। आकाश के अन्धकार में लुप्त मातृत्व का उफान उल्कापात बनकर गिर पड़ा हो।

घोर पीड़न !

दारुण दुख !!

स्नेह खंडन !!!

वृजा अपने बेटे की लाश से लिपट-चिपट रही थी, "बेटे ! बोल, एक बार तो बोल, देख अपनी माँ को देख, बेटे"······वही हाहाकार

वही चीत्कार ! जन्मजन्मान्तर की माँ के पेट की जलन ।

चोरसिंह ने उसे उठाया । कहा, "रो मत बृजा !"

बृजा रणचंडी की तरह हुँकार उठी, "रोऊँ नहीं, क्यों नहीं रोऊँ ? मेरे कलेजे का टुकड़ा तुम निकालो और मैं न रोऊँ । तुम मेरा सब कुछ छीन लो और मैं चीखूँ नहीं । लो, मुझे भी गोली मार दो, मुझे भी अपने बेटे के पास सुला दो, सुला दो ।" और उसने झपटकर दीवार से अपना सिर फोड़ लिया ।

चोरसिंह देखता रहा कि इस कमजोर औरत में इतनी ताकत, इतना विद्रोह कैसे आ गया । महाशून्य की तरह इस दासी में धूमकेतु सा तेज कहाँ से आं गया ? वह देखता रहा, विमूढ़-सा देखता रहा ।

चेतना के साथ वह भागा और उसने दीवान जी को खबर दी ।

दीवान आया ।

देखा—माँ और बेटे, धरित्री और बीज, आशा और विश्वास, अनुराग और श्रद्धा चेतनाहीन पड़े हैं । दोनों के खून परस्पर मिलकर एक असीम सुख का अनुभव कर रहे हैं ।

दीवान ने कहा, "उठो बृजा !"

बृजा नहीं उठी । अचेतनता की अवस्था में ही उसने अपने बच्चे को थपथपाना शुरू किया । माँ की चेतना पुत्र के लिये हर क्षण जीवन्त है, अमर है, सजग है ।

चोरसिंह ने कहा, "थपथपा रही है, दीवान जी !"

दीवान ने शांत स्वर में कहा, "कुँवर बहुत जिद्दी है, ऐसा खेल नहीं खेलना चाहिए । उठाओ इसे चोरसिंह !"

चोरसिंह ने बृजा को उसी अवस्था में उठाकर एक किनारे कर दिया । दो-चार दास और आ गये थे । उन्होंने लड़के को उठाया और चलते बने ।

महाराजा के मन पर इस घटना का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा । उन्हें अपनी और अपनी रानी की चिंता थी ।

वे उस क्षरण की बड़ी आकुलता से प्रतीक्षा कर रहे थे कि कोई आये और उन्हें कहे कि आपके बेटा हुआ है।

बूजा को धीरे-धीरे चेतना आने लगी।

घायल साँपिन जिस तरह अपने फन को धून्ल में पटकती है उसी तरह वह फर्श पर लोटती रही।

पगली की भाँति उसने अपनी आँखें खोलीं और खून को देखकर तड़प उठी।

पुकार उठी, "हज़ारी......हज़ारी......।"

उसने उसके बिखरे खून में अपने हाथ रंग लिए।

"घणी-घणी खम्मा अन्नदाता !" दासी ने दौड़कर महाराजा राजसिंह को कहा।

"कहो, क्या समाचार है ?"

"महाराजा ! लड़का हुआ है।"

"भँवर !"

"जाओ, खुशियाँ मनाओ।"

शंख, घड़ियाल और कांसे के थाल गूँज उठे।

और बूजा जोर से चीख पड़ी, "बेटा रे, बेटा......!"

दुख सुख से टकरा गया।

आँसू मुस्कराते अधरों पर टिक गये।

यौवन का तोरण द्वार

महाराजा मानसिंह का खानदानी गढ़ 'राजगढ़' था।

इस गढ़ का घेरा लगभग चार मील का था और इसके दो मुख्य दरवाजे थे। इन मुख्य दरवाजों के नाम क्रमशः हाथी पिरोल और चाँद पिरोल थे। वैसे पत्थर और चूने की बनी मजबूत गढ़ की चहारदीवारी

के जहाँ-तहाँ कई छोटे-छोटे दरवाजे और भी थे, लेकिन उनका महत्व बहुत ही कम था। पर हाथी पिरोल और चाँद पिरोल का ऐतिहासिक महत्व था क्योंकि युद्ध में हमलावर इन्हीं दो दरवाजों से आक्रमण करते थे। तभी इन दोनों पिरोलों के दरवाजे लोहे के बने हुए थे और दरवाजों के ऊपरी भाग में लोहे की बनी चार-चार, पाँच-पाँच इंच लम्बी और एक-एक इंच मोटी कालें लगी हुई थीं ताकि हमलावर हाथी इन फाटकों को शीघ्रता से न तोड़ सकें।

गढ़ के चारों ओर गहरी खाई बनी हुई थी जिससे प्राचीन युग में जब 'स्थल-संग्राम' होते थे तो गढ़ की रक्षा की जाती थी। आजकल उस खाई में शहर का गन्दा पानी जाता है।

महल की बनावट पर प्राचीन कला की पूर्ण छाप थी। ऊपर वही मन्दिरनुमा गुम्बज, वही लाल रंग के कंगूरे और वही महीन-महीन कलापूर्ण लाल पत्थर और संगमरमर की नक्काशी।

किंतु महल की बनावट भीतर से रहस्यात्मक ढंग की थी। एक से एक मजबूत दरवाजे और एक से एक विचित्र रास्ते। ऐसा मालूम पड़ता था कि जैसे कोई तिलस्म हो।

इस प्रकार के तिलस्मनुमा महल का बनाना एक विशेष महत्व रखता था। क्योंकि गत युगों में ये रजवाड़े परस्पर कुत्ते-बिल्ली की तरह लड़ा करते थे। बात-बात में जान को हथेली में लेकर मैदान में आ डटते थे। अपने आपको योद्धा समझने वाले ये राजा लोग और सामन्त-पुत्र अपना सर्वनाश क्यों करते थे, यदि इनके कारणों का पता लगाया जाय तो ऐसा मालूम होगा कि इनमें केवल आवेश था, ज्ञान नहीं। यही वजह थी कि हाथी पिरोल के भीतर ठीक वैसा ही एक मजबूत फाटक और था। इस दरवाजे पर बलिष्ठ एवं विश्वस्त सैनिकों का पहरा रहता था जो हर हालत में अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार रहते थे।

इस भीतरी दरवाजे के पीछे राजवी-परिवार रहता था।

जनाना-निवास, खास निवास, मन्दिर, बाग-बगीचे, दरबार सबके सब।

इस महल की चहारदीवारी से लगे कच्ची मिट्टी के छोटे-छोटे घर पीप भरे फोड़े से जान पड़ते थे, इनमें राजाजी के दहेज में आई डावड़ियाँ[1] और दास रहते थे।

राजाजी की पड़दायत[2] और पासवानों[3] के उपभोग के लिये भी अलग-अलग निवास बने हुए थे। इन निवासों में वैभव-विलास की वस्तुएँ पूर्ण रूप से विद्यमान रहती थीं।

प्राचीन परम्परा के अनुसार आज भी इस महल में नागौरी-बैल पल रहे थे। सुनते हैं कि ये बैल इन राजाओं की विशेष सवारी के थे पर आजकल सबके सब मोटरें प्रयोग करने लगे हैं—क्या राजा और क्या रानियाँ। यही वजह है कि रथों पर एक-एक इंची गर्द जम चुकी है और बैल मुफ्त की घास चरते हैं।

अरबी नस्ल के हिनहिनाते घोड़े और रेगिस्तान में हवा की गति से चलने वाले ऊँट पुरानी धरोहर की तरह निष्प्रयोजन ही पलते जा रहे थे। क्योंकि अब इनका उपयोग केवल जुलूसों में ही होता था।

लेकिन गढ़ की रौनक में यदि किसी ने चार चाँद लगा रखे थे तो वह राजाओं की निरंकुशता और उनका अत्याचार था।

राजा मानसिंह का खानदान इसी गढ़ में निवास करता था। इसी गढ़ में उनके देवी-देवता विराजमान थे। इसी गढ़ में उनके स्वर्गीय

---

१. दासियाँ। २. छोटी जाति की होने के कारण यह रानी नहीं बन सकती पर स्थायी रूप से महल में रहती है। ३. इसे विलास के लिए महल में थोड़ी देर के लिए बुला लिया जाता है।

पद्मिनी की याद आ जाती थी। वह विवाहित थी और विवाहित के साथ-साथ बिजली-सी चंचल और टाबर[1]-सी नटखट।

उसका रनवासे में आना-जाना मानसिंह की वासना को बढ़ावा दे रहा था। मानसिंह मोह-सा गया था।

जब कभी भी उसे महाराजा के साथ बैठने का मौका मिलता था और यदि उस समय गायत्री हाजिर होती थी तो मानसिंह किसी न किसी तरह उसका अंग-स्पर्श और इशारे किया करता था। गायत्री का कुछ भी विरोध न करना, मानसिंह की लालसा को उद्दीप्त करता था।

होली का दिन था।

श्री जी साहब बहादुर राजसिंह जी दिल्ली होली खेलने चले गये थे। शहर की होली का प्रबन्ध मानसिंह को करना था। बड़ी धूमधाम से प्रबन्ध किया जाने लगा। शहर के सामन्तों और उमरावों को न्योता दिया गया। दावान जी भी अपने परिवार के साथ आये।

गढ़ के कुल-देवता की पूजा की जाने लगी।

भजन करने वाले भक्त ने गाना शुरू किया—

"वाने समझाओ री माई,
बन को चले दोनूँ भाई।
आगे-आगे राम चलत है,
पीछे लक्ष्मन भाई,
वाके पीछे चलत जानकी,
राजा जनक री जाई।
वाने समझाबो री माई,
बन को चले दोनूँ भाई।"

मन्दिर का उच्छव (उत्सव) समाप्त होने पर रंग और गुलाल लोग एक-दूसरे को मसलने लगे। सामन्तों और उमरावों ने बड़े ही

१. बच्चे।

आदर से गुलाल मानसिंह और अमरसिंह के चेहरे पर मली और उन्होंने हँसकर वापस उनके चेहरों को हरा-पीला और लाल किया।

यहाँ की हुड़दंग खत्म करने के बाद मानसिंह अपने रावले में गया जहाँ उसकी पत्नी युवराणी पिचकारी भरे बैठी थी। मानसिंह के पहुँचते ही दासियाँ हँसती-फुदकती बाहर चली गईं। युवराणी ने जोर से पिचकारी भरकर मानसिंह को तर कर दिया और मानसिंह ने लपककर गुलाल युवराणी के चेहरे पर मल दी और पकड़कर बिस्तरे पर पटक कर उसे बुरी तरह से गुलाल से भर दिया। युवराणी सा हँसती-हँसती कह रही थी—"छोड़ देवों सा म्हें हार गई सा (छोड़ दीजिए आप मैं हार गई हूँ)।"

मानसिंह ने तब युवराणी को एक बार गोद में उठाकर बिस्तरे पर पटका और वापस चला।

सीढ़ियों के बीच उसे गायत्री मिल गई।

गायत्री को देखते ही मानसिंह ने गुलाल से मुट्ठी भरी और गायत्री के विरोध करते-करते उसने उसके गाल पर मल ही दिया। गायत्री ने भी अपने गुलाल से युवराज को हरा कर दिया। मानसिंह ने धीरे से कहा—"गुलाल लाल रंग की चोखी होती है, गायत्री!"

"नहीं युवराज जी, यह तो अपनी-अपनी पसन्द की बात है।"

"अपनी पसन्द पूरी हो, तब कोई बात हो।"

"छाती में यदि पौच (ताकत) है तो कर लीजिये।" यह कहकर गायत्री ने अपनी निगाहें नीची करलीं। मानसिंह की आँखें चमक उठीं। उसने तुरन्त इधर-उधर ताक कर उसे अपने बाहुओं में भर लिया।

किसी की खिलखिलाहट सुनकर मानसिंह तेज कदम बढ़ाता हुआ सीढ़ियों से उतर गया। उसके तन-बदन में एक आग सी लगी हुई थी।

उसी रात मानसिंह ने निश्चय किया कि महाराजा दिल्ली से वापस

लौटकर आयें, इसके पहले ही गायत्री को अपने पंजे में फँसा लिया जाय ।

पर इस बार मानसिंह के भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया । बात यह हुई कि मानसिंह के चाचा जोरावरसिंह जी ने अपने गाँव के तीन खेतिहरों को बेगार के सिलसिले में मौत के घाट उतार दिया था, जिससे सारे शहर में विद्रोह की चिनगारियाँ सी जल उठी थीं । कुछ राजनीतिक नेताओं ने इसके विरुद्ध पर्चेबाजी करनी शुरू की । छापों (अखबारों) में खबरें भेजी गईं और शहर में जगह-जगह इसके विरुद्ध कागज चिपकाये गये ,जिनमें लिखा हुआ था—"हमें न्याय चाहिये, यह जोरावरसिंह का नंगा जुल्म है, जोरावरसिंह को फाँसी हो ।"

श्री जी साहब बहादुर ने आकर तुरन्त उस मामले की सुनवाई की । उन्होंने तुरन्त उन राजनीतिक नेताओं से भेंट की और मामले को अपने कानों से सुना । नेताओं ने बताया—"वे तीनों किसान आपके भाई जोरावरसिंह के लगातार जुल्म को सहते आ रहे थे । जोरावरसिंह ने उन्हें घर से बेघर किया, उनकी लड़कियों एवं घरवालियों से जबरदस्ती बुरा काम किया, उनके खेतों को तो कई सालों से अपने कब्जे में कर ही रखा था ।···इतना कुछ होते हुए भी वे बेचारे अपने मुँह पर पट्टी बाँधे पड़े रहे । इधर जो जनता में जागरण हुआ है, लोगों ने जैसे-जैसे अपने को पहचाना है वैसे-वैसे उनमें खिलाफत करने की इच्छा भी पैदा होने लगी । जोरावरसिंह ने उन तीनों को बेगार पर बुलाया । उन तीनों ने इस लिए बेगार पर आने से इन्कार कर दिया क्योंकि वे तीनों दूसरों के यहाँ काम करके अपनी गृहस्थी का भार ढोते थे । उन्होंने हाथ जोड़कर विनती की—माई-बाप ! यदि हम अपने-अपने काम-काज पर नहीं जायेंगे, तो हमारे बाल-बच्चे भूख से मर जायेंगे । दुहाई है अन्नदाता,गरीब-गुरबा पर दया कीजिये···पर जोरावरसिंह ने किसी की भी अर्ज पर ध्यान नहीं दिया ।··· और उन्हें बेगार करने के लिये धमकी दी । पहले तो उसने फीटी (अश्लील) गालियाँ दीं । गालियाँ इतनी भद्दी थीं कि उनको

जबान पर नहीं लाया जा सकता। माँ सेती, बाप सेती, बहिन सेती; किसको उसने टाला था? जब इस पर भी वे तैयार नहीं हुए तो जोरावरसिंह ने उन्हें यह धमकी दी कि यदि तुम लोगों ने मेरी बात को नहीं माना तो मैं खाल खिचवा लूँगा।···पर वे तीनों तैयार नहीं हुए। उन्होंने भी सीना ठोंककर कह दिया कि प्राण दे देंगे पर बेगार नहीं करेंगे।

जोरावरसिंह यह सुनकर आगबबूला हो उठा। उसने अपने कारिन्दों को यह हुक्म दिया कि इन हरामजादों को घास वाली कोठरी में बन्द करदो। हुक्म पाते ही कारिन्दों ने उन तीनों को घास वाली कोठरी में बन्द कर दिया।

आधी रात का समय हुआ।

कोठरी में आग लग गई।

उन तीनों के चीखने-चिल्लाने की करुणा-भरी आवाजें आईं।

पर किसी ने भी आकर घास वाली कोठरी नहीं खोली। जब आग को जले दस-पन्द्रह मिनट हो गये तब कारिन्दों ने आग-आग कहकर बुझाना शुरू किया। गाँव वाले भी इकट्ठे हो गये थे। उन तीनों के बाल-बच्चे रो-रोकर जमीन-आसमान एक कर रहे थे। अन्नदाता! उनके विलाप में कितना दर्द था, कितनी तड़प और कितनी लाचारी थी?

जब आग शान्त हो गई तब उन तीनों के शवों को निकाला गया। केवल कंकाल बचे रह गये थे—भूतों जैसे सुने-सुनाये।···श्री जी साहब बहादुर आप कल्पना भी कर सकते हैं कि उनकी मौत कितनी दर्दीली हुई थी, कितनी पीड़ा से उन्होंने दम तोड़ा होगा···गाँव वालों का कहना है कि यह आग जान-बूझकर लगाई गई थी, यह जोरावरसिंह का इस बात के लिए आतंक था कि आइन्दा लोग बेगारी के लिए आना-कानी न करें। उसने कई बार अपनी मूँछों पर ताव देते हुए कहा भी है कि हम इस तरह उठने वाले सिर को कुचल देते हैं। हम से जो भिड़ने

फिर परी क्या चीज है ?"—इतना कहकर मानसिंह ने शराब का गिलास खाली कर दिया। उसकी निगाह धनसिंह पर जग गई। धनसिंह ने कहा—"मेरी रग-रग में इस बात से कँपकँपी उठती है।"

इस बार मानसिंह भड़क उठा।

अपने हाथ को जोर से मेज पर पटकता हुआ बोला—"गीदड़ों से जाये (जन्मे) शेर थोड़े ही मार सकते हैं। हमें खुद जतन करना पड़ेगा, ठाकुर सा ! क्षत्री इतने डरपोक नहीं होते, समझे !"

"......।"—धनसिंह चुप इसलिये रहा कि उसे तो राजाजी का भय खा रहा था।

मानसिंह कुछ देर चुप रहा। उसने गिलास में फिर शराब उँड़ेली, उसमें सोडा मिलाया और चुस्की लेते हुए टूटते स्वर में बोला—"हमारा जी आपसे बिलकुल नहीं भर रहा है,...हमें आपको अपनी नौकरी से हटाना पड़ेगा।"

"युवराज सा !"—एक हल्की चीख-सी धनसिंह के मुँह से निकली। हाथ अपने आप जुड़ गये। वह हकलाता हुआ बोला—"माई-बाप ! खम्मा (क्षमा) कीजिए।"

"हम खम्मा करेंगे ? ठाकुर सा ! आप इत्ती (इतनी) बड़ी तनखा लेते हैं और आपसे इतना छोटा काम नहीं होता, फिर आपकी हमें क्या जरूरत है ?...जरा सोचिए तो सही ठाकुर सा, हमारी राणी सा में कहाँ रूप-रंग है ? बिलकुल अनाड़ी मर्द लुगाई (औरत) है। कठोर हाथ, कठोर तन, मुश्की रंग और भोला-सा चेहरा।...और गायत्री...?"—मानसिंह की मुद्रा सिनेमा के उस हीरो की तरह हो गई जो पहली बार अपनी प्रेमिका को देखकर आता है और अपने दोस्त को उसकी तारीफ सुनाते-सुनाते खो सा जाता है। मानसिंह की आँखें शराब के गिलास पर जम गईं।

धनसिंह धर्मसंकट में तिलमिलाने लगा। उसके ललाट पर पसीना चमक आया। वह क्या करे और क्या न करे, कुछ भी समझ में नहीं

आ रहा था। इधर कूदे तो कूँआ और उधर कूदे तो खाई।

दिल की बेचैनी को दूर करने के लिये वह भी उठकर खिड़की के पास खड़ा हो गया। उसका चेहरा उदास था, उसका मन दुखी था, इसलिये उसे आकाश में चमकने वाले तारे उदास जान पड़े। वह सोचने लगा—'युवराज जी का कैसा विचित्र दिल है, और यह हरामजादी गायत्री भी कुछ समझती नहीं। युवराज जी पर लट्टू हो गई, इनके सामने मटक-मटककर चलती है। हे राम! कैसी छिनालें पैदा हो गई हैं? इनसे भगवान् ही बचाये।...बेशर्म सोचती तक नहीं कि मैं दीवान जी की दोहिती हूँ, राजाजी मुझे अपनी सगी बेटी-सा प्यार करते हैं। कहीं उनके कान में इस पाप की भनक भी पड़ गई तो नाकों चने चबवा देंगे; नीचे सिर, ऊपर पाँव करवादेंगे।'—और धनसिंह के सामने चित्र खिंच उठा कि राजाजी को इस भेद का पता लग गया है और वे शेर की तरह गर्जकर कह रहे हैं—'हम तुम्हें शूली पर चढ़वा देंगे, तुम नहीं जानते कि रैयत की बहू-बेटी हमारी अपनी बहू-बेटी होती है; उन पर कुदृष्टि रखने वालों की हम आँखें निकलवा लेते हैं, जिन्दा ज़मीन में गड़वा देते हैं और धनसिंह जी, आप तो काफी समझदार हैं, आपकी अकल को तो काठ नहीं मार गया, फिर ऐसा अनर्थ क्यों हो गया? हम आपको इस अपराध के लिये कभी माफ नहीं कर सकते...।'

धनसिंह का शरीर काँप उठा। आँखें भय से स्थिर हो गईं। हकलाता हुआ बोला—"युवराज जी! यह अनर्थ की बात है, ज़रा धीरज से सोच लीजिये, कहीं ज़रा-सी बात बाहर निकल गई तो...।"

"ठाकुर सा!"—बीच में ही मानसिंह दहाड़ उठा—"हमें उपदेश देने की जरूरत नहीं है, हम अपना काम चाहते हैं, चाहे वह काम अच्छा हो या बुरा।"

"तो?"

"बात ऐसी कहिये जिससे कलेजे को थावस (धैर्य) मिले।" मानसिंह ने शराब का दूसरा गिलास भी खत्म कर दिया। शराब की नशीली

सुर्खी उसकी आँखों में उतर आई। अपनी अंगुलियों को वह विचित्र ढंग से हिलाता हुआ बोला—"हम गायत्री को चाहते हैं और गायत्री हमें।" ठाकुर सा! बात का भण्डाफोड़ तब होता है जब एक आदमी दूसरे पर जबरदस्ती करता है।···और हमारा तो अपना सौदा है, खुशी का सौदा है। उसमें दूसरों के डर और एतराज की बात ही कैसी?···अजीब हैं आप?······आपको क्या पता कि हमारा मामला कहाँ तक बढ़ चुका है?" ··मानसिंह ने अपनी आँखें बन्द कीं और विचारों में खो गया। फिर उसने उन्हें खोला और विश्वास-पूर्वक कहने लगा—"ठाकुर सा! बनिये को पैसा बहुत प्यारा होता है और उसकी औरत लक्ष्मी के नाम से सम्बोधित होती है।···उस दिन जब राजाजी और दीवानजी किसी गहरे मसले पर विचार-विमर्श कर रहे थे, उस समय हम दोनों थोड़ी दूर पर खड़े-खड़े बातें कर रहे थे। दीवान जी हमारी इस तरह की बातों से बहुत प्रसन्न रहते हैं। इसका कारण यह है कि वे खुद निःसन्तान हैं इसलिये वे गायत्री को लड़की से ज्यादा लड़का मानकर चलते हैं।··· बात का विषय था कि जो हमारे लिये मान-निवास बनने जा रहा था, उसका ठेका किसे दिया जाय? हमारा कहना था कि वह ठेका हम अपने किसी भाई-बन्धु को देंगे और गायत्री का कहना था कि वह हमारे पिता जी को मिलना चाहिये।···अन्त में उसने अधिक जिद्द करके कहा—"यह ठेका हमारे भाईजी (पिताजी) को ही मिलना चाहिये।"

"क्यों? क्या यह कोई जरूरी है?" मैंने कहा।

"हाँ, यह जरूरी है, क्या आप हमारी इतनी-सी बात भी नहीं रखेंगे?"

"और आप हमें जो टरकाती रहती हैं, वह!"

"मैं?"

"हाँ-हाँ! आप!!"

"यह बात बिलकुल झूठ है।"

"कैसे?"

"बिल्ली के गले में घंटी कौन बाँधे ?...युवराज जी !..." वह चुप हो गई थी। उसकी चुप्पी का क्या मतलब हो सकता है ?...मैं कहता हूँ ठाकुर सा ! आप उसे किसी तरह यहाँ ले आयें, बस !"

धनसिंह ने उठते हुए कहा—"मैं उसे यहाँ ले ही आऊँगा।"

"हम आपको मुँहमाँगा इनाम देंगे।"

रात ढलती जा रही थी।

तारे उसी तरह चमक रहे थे।

मानसिंह बेचैनी से कमरे में चहल-कदमी कर रहा था।

धनसिंह पास वाले कमरे में बिस्तरे पर पड़ा करवटें बदल रहा था।

अब गढ़ में मौत-सी खामोशी छा गई थी।

पाप पलता ही गया

दोपहर का समय था।

धूप कड़ाके की पड़ रही थी। लू अंगारों सी लगती हुई बह रही थी। शहर की गलियों में एक भी मिनख (मनुष्य) दिखलाई नहीं पड़ रहा था। केवल शून्यता, गहरी गर्मी।

गायत्री के पीहर आगे घुटने तक धूल थी। एक लम्बा-चौड़ा चौक था। उसमें आकर युवराज मानसिंह जी की मोटर रुकी। मोटर में धनसिंह बैठा था। इस समय धनसिंह ब्रिजेस, कोट और साफे में था। मूँछें उसकी भी राठौड़ी थीं।

ड्राइवर ने जाकर भीतर सूचना दी।

गायत्री के पिता ने धनसिंह के आगे सिर झुकाकर प्रणाम किया—"जै राम जी ठाकुर सा !"

"जै राम जी की सेठ जी।"

"आज इधर आने की तकलीफ कैसे की ?"

"जरा युवराणी सा का आपकी बेटी गायत्री के नाम सन्देस है।"

"अभी भीतर कहलवा देता हूँ।" उन्हें बैठक-खाने में बैठने का संकेत करके गायत्री के पिता किसनचन्द जी भीतर गये। ठाकुर सा वहाँ पर बिछी जाजम पर बैठकर दीवारों पर लगे चित्र देखने लगे। चित्र भगवान् श्रीकृष्ण के थे जिससे स्पष्ट रूप से निर्णय कर लिया जा सकता था कि गायत्री के पिता वैष्णव धर्मावलम्बी हैं, क्योंकि वे कुंकुम का तिलक भी करते थे।

द्वार से दृष्टि दौड़ाने पर ठाकुर धनसिंह ने देखा एक भीत को सफेद मिट्टी से पोतकर विभिन्न चित्र लाल, पीले और नीले रंग से बनाये गये हैं। ऐसे चित्र रियासतों में इस बात के प्रतीक माने जाते हैं कि कोई व्यक्ति हरिद्वार जाकर अपने पूर्वज के 'अस्त'[1] बहाकर आया है।

किसनचन्द जी जब पुनः लौटे तो ठाकुर सा को उन्हीं चित्रों की ओर ध्यानमग्न पाया, अतः उनकी शंका का समाधान करते हुए वे बोले—"मैं अभी थोड़े दिन हुये अपने पिता जी के 'अस्त' बहाकर आया हूँ।"

"और आपकी बाई सा !"—धनसिंह की आँखें किसनचन्द जी पर जम गईं।

"आ रही है ठाकुर सा !......आप कहें तो शर्बत मंगवाऊँ ?"

"नहीं सा, आपकी दया चाहिए।"—धनसिंह ने शिष्टता से नम्र शब्दों में उत्तर दिया। लेकिन किसनचंद जी घर आये राजवी-मानव को इतनी सहजता से छोड़ने वाले नहीं थे। इसलिए हाथ जोड़ते हुए बोले—

---

१. हड्डियाँ।

"घर आया पाहुना बिना मुँह जूठा किए कैसे जा सकता है ?"

"तो एक गिलास ठंडा जल ही पिलवा दीजिये।"

किसनचंद जी ने तुरन्त जल लाकर पिलाया। पानी पीकर धनसिंह कृतज्ञता जताते हुए बोला—"आपके यहाँ पानी तो बरफ की जात[1] मिलता है। पीने से कलेजा तर हो गया।"

"ठाकुर सा ! छह-छह मटकियाँ ठंडी हो रही हैं और मटकियाँ भी ठंडी मिट्टी की बनी हुई हैं।"

"तभी पीने री खोपड़ी तर हो गई।"—इस बार धनसिंह के स्वर में जरा उपहास था पर किसनचंद जी के मुख पर तो खुशी नाच उठी।

उसी समय गायत्री आई। धनसिंह जी से पर्दा करना उचित था, इसलिए उसने थोड़ा-सा घूँघट निकाल लिया।

धनसिंह ने किसनचंद जी को वहीं खड़ा देखकर एक चाल चली—"युवराणी सा ने कहलवाया है कि······।"

किसनचंद जी उनका तात्पर्य समझ गये और वहाँ से चलते बने। उनके चलते ही गायत्री ने अपना घूँघट हटा लिया। आँखें मटकाकर बोली—"अब कहिये सच्ची बात कि आपको किसने भेजा है ?"

"मुझे, मुझे युवराज मानसिंह जी ने।"—धनसिंह सशंकित स्वर में बोला।

"मैं तो पहले से ही लख गई थी।"

"दाई से पेट थोड़े ही छिपा रह सकता है। युवराज जी ने कहलवाया है कि खाली आप बातें ही मारती रहेंगी या कुछ अपना······?"

"लेकिन ठाकुर सा, कुछ उपाय नहीं सूझता। कहीं भण्डाफोड़ हो गया तो खानदान की नाक कट जायेगी।"—आँखों को धनसिंह पर जमाती हुई भयभीत स्वर में गायत्री बोली।

धनसिंह के ललाट पर बल पड़ गये। अपने बायें हाथ से अपनी ठोड़ी

---

१. समान।

को पकड़ता हुआ वह कुछ देर के लिये विचारने लगा। गायत्री उसे उत्सुकता से टुकुर-टुकुर देख रही थी। एकाएक धनसिंह चुटकी बजाता हुआ बोला—"तरकीब हाथ लग गई।···आप ऐसा करियेगा। हाँ, कल आप ससुराल जायेंगी ?"

"हाँ ! मैं ससुराल हमेशा जाती हूँ, मेरी सासू वहाँ अकेली जो है।"

"कितने बजे ?"

"यही संझा पड़े।"

"तब आप ऐसा करियेगा कि मुझे शहर के पश्चिमी दरवाजे पर मिल जाइयेगा, मैं आपको सीधा राजगढ़ ले चलूँगा।"

"लेकिन गढ़ के पहरेदारों और ड्योढ़ीदारों से यह बात कैसे छिपी रह सकती है ?"—गायत्री ने शंका प्रकट की।

शंका का समाधान गुप्त रखता हुआ धनसिंह बोला—"इसकी चिंता आप छोड़िये, मैं सब ठीक कर लूँगा।"

"लेकिन मुझे डर लग रहा है !"

"आखिर आप हैं औरत ही।"—कहकर धनसिंह उठ गया। गायत्री उसे द्वार तक पहुँचाने गई। वापस लौटते ही उसके पिता ने तुरन्त पूछा—"युवराणी सा ने क्या कहलवाया है ?"

"बहुत-सी बातें थीं इधर-उधर की। भाई जी, मैं युवराणी सा को कहकर आपको वह ठेका दिलवाऊँगी, सच कहती हूँ—रजवाड़े में सप्लाई का ठेका ले लेंगे तो लाखों का नफा हो जायेगा।"

बात बिलकुल व्यापार की थी। व्यापार भी ऐसा कि जिसमें आँखें बन्द किये नफा दीखता हो, इसलिये बाप ने पुत्री की बात पर गौर नहीं किया। निन्नानवे के फेर में वे सत्यता को भूल बैठे।

धनसिंह जी के चले जाने के बाद गायत्री को वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। मानसिंह पर वह खुद बुरी तरह आसक्त थी, फिर भी यह काम पाप का था, और पंडित जी के शब्दों में एक पतिव्रता के लिये पर-पुरुष का ध्यान भी नरक के समान है। तब उसे अपनी भायली (मित्र)

बसन्ती की याद आई। कितनी गरीब थी बेचारी ? दो वक्त का खाना भरपेट नहीं मिलता था। न तन ढकने को कपड़ा और न सिर छुपाने के लिये घर। बापड़ी (बेचारी) अपनी जिन्दगी से तंग थी और खसम (पति) भी ऐसा मिला—बेसऊर का। न धोती पहनने की अक्ल और न बात करने का सलीका।···किस्मत की बात कहिये कि उसकी साँठ-गाँठ सेठ सुखलाल से हो गई। बसन्ती चतुर लुगाई थी।···भीतर ही भीतर उसने माल पीना शुरू किया और देखते-देखते लाखों की मालकिन बन गई।······पैसा आने पर उसकी इस बात पर कि वह सुखलाल से खाती-पीती है, पर्दा पड़ गया। तब उसके यहाँ आने-जाने वाले आदमी बसन्ती के धणी चरणदास को कहा करते थे—"सेठ जी! तभी तो कहने वालों ने कहा है कि बनिये का भाग्य पत्ते के नीचे रहता है।"

गायत्री ने सोचा—'पैसा आने पर सबके पाप बड़ी आसानी से छिप जाते हैं।···और मानसिंह जी युवराज ठहरे। क्या बाँका शरीर पाया है, क्या खूबसूरत चेहरा दिया है भगवान ने, ···सीना तो डेढ़ हाथ चौड़ा है।'······गायत्री की विचारधारा ने अपना रुख बदला। उसके सामने अपने पति का चित्र घूम गया। पतला-दुबला शरीर। जनानिया चाल-ढाल। महीन बोली। टीके (सुहाग) की रात के बाद कभी भी उसने गायत्री से बोलने का कष्ट नहीं किया और फिर परदेश चला गया। ···परदेश से उसने उसे खत तक नहीं डाला। एक दफे उसके पति ने उसकी सहेली के साथ कहलवाया था कि उसे अपनी बहू को चिट्ठी लिखते शर्म आती है।······गायत्री को उस दिन कितनी तकलीफ हुई थी कि उसके भाग्य भी कितने फूटे हुए हैं कि वह दो हरुफ (शब्द) के लायक भी नहीं है। तब उसने इसे अपनी किस्मत का दोष ही समझा।

एक दिन उसने अपने पति को एक चिट्ठी लिखी। चिट्ठी में लोक-गीतों का प्रभाव था। उसमें उसने लिखा था—मेरे चुड़ले का सिंगार, मेरी सेजाँ (शय्या) का सरदार, आपकी चिट्ठी न पाकर मेरा हृदय बहुत चिन्तित है। रात को नींद नहीं आती है और न ही दिन को कल

पड़ती । इन पंक्तियों के नीचे एक दोहा लिखा था—

चाँद थारे चानणे सूती पलँग बिछाय ।
जब जागूँ जब एकली, मरूँ कटारी खाय ।।

[अर्थात्—ए चाँद, मैं तेरे प्रकाश में पलँग बिछाकर सोई, पर मैं जब-जब जागी अपने को अकेला पाया, इसलिये कटारी खाकर मरना चाहती हूँ ।]

इसी प्रकार की वह चिट्ठी थी पर उस चिट्ठी का कोई जवाब नहीं आया । गायत्री के मन में अपने पति के प्रति एक उपेक्षा-सी पैदा हो गई । उपेक्षा ने धीरे-धीरे अपना गहरा रूप धारण किया । उसने भी एक दिन अपनी भायली को कह दिया—"यदि वह हमारी चिंता-फिक्र नहीं करता, तो मुझे उसकी क्या पड़ी ?"

बात थी भी सोलह आने सही ।

गायत्री के पास अपने मन बहलाने के लाख साधन थे । वह अपने नाना की लाड़ली दोहिती थी । जैसा चाहती थी वैसा करती थी । उसके मन में भी उमंगें थीं । वासना, लालसा और प्रेम सब कुछ था ।...... फिर वह मानसिंह की ओर खिंचती चली जाय, यह स्वाभाविक ही था ।

आज का दोपहर बीत गया ।

रात तारों की चुनरी ओढ़े निःशब्द कदम उठाती चली गई ।

नया सवेरा आया ।

उसका दोपहर चिलचिलाती धूप से चमका ।

संध्या आई ।

गायत्री बन-ठन के दुल्हिन बनी ।

हृदय में भाँति-भाँति के विचार उठ रहे थे पर वह अपने बारे में किसी प्रकार का निर्णय नहीं कर पा रही थी । यह सब सोचते हुए कि वह जो काम करने जा रही है, वह वास्तव में खतरनाक है, बेइज्जती का है, पाप है । मगर एक ऐसी भावना और थी जो उसे जादू की तरह अपनी ओर खींच रही थी ।

उसने ओढ़ना ओढ़ा ।

बाहर इक्का खड़ा था, उस पर अपनी नौकरानी के साथ जा बैठी ।

नौकरानी का नाम मघा था । उम्र होगी यही पच्चीस-छब्बीस की । बाल-विधवा थी । चेहरा-मोहरा भद्दा था । काली-कलूटी थी । उस पर चेचक के दाग़ यानी वह एकदम आकर्षण विहीन थी ।

अभी इक्का उसके मोहल्ले को पार करके पचास कदम ही चला होगा कि गायत्री ने साईस को इक्का रोक देने के लिये कहा ।

इक्का रुक गया ।

गायत्री उतर पड़ी । एक बार उसने ऐसा अभिनय किया जैसे उसे कोई महत्वपूर्ण बात याद आ गई है । फिर गंभीरता से बोली—"तुम दोनों घर जाओ, मैं श्यामली से मिलकर सासरे चली जाऊँगी ।...एक बहुत जरूरी काम याद आ गया ।" उसकी तर्जनी उसके निचले होंठ पर थी ।

इक्का वापस चलता बना ।

तब गायत्री पैदल ही घूँघट निकालकर पश्चिमी दरवाजे की ओर चली ।

शहर की चहारदीवारी का यह पश्चिमी दरवाजा उस समय बैल-गाड़ियों के आवागमन से धुँधला-सा दीख रहा था । इन बैलगाड़ियों पर गाँव वाले लकड़ियाँ तथा घास लादकर शहर में बेचने आ रहे थे ।...

जब गायत्री ने दरवाजे में प्रवेश किया, उस समय चार ऊँटों वाले 'उमराव'[1] गाते हुए उसे मिले । इन ऊँटों पर घी की कुप्पियाँ थीं । उसके पीछे दो लादे वाले झूमते आ रहे थे ।

गायत्री ने पश्चिमी दरवाजे के इधर-उधर झाँककर देखा । उसे मोटर दिखलाई नहीं पड़ी, वह बड़ी निराश हुई । उसे गुस्सा भी आया । उसने मन ही मन निर्णय किया कि वह कल ही मानसिंह जी से इस

१. एक लोक-गीत ।

बात की जरूर-जरूर शिकायत करेगी। वह कहेगी कि धनसिंह ने उसे धोखा दिया। वह जान की बाजी लगाकर घर से भागकर आई थी पर आपके ही······।"

उसने देखा कि एक मोटर सोनपुर से आ रही है।

उसने नजदीक आते ही उसे ध्यान से आँखें फाड़कर देखा। उसमें धनसिंह बैठा था।

पलक झपकते धनसिंह ने मोटर रोकी। पलक झपकते गायत्री उस पर बैठी और पलक झपकते मोटर फिर से रवाना हो गई।

मोटर वीरान सड़क पर चल पड़ी। उसकी रफतार पूरी हवा थी।

गायत्री की साँस इतनी तेज गति से चल रही थी जैसे वह मीलों दौड़कर चली आ रही है और धनसिंह के चेहरे पर पसीने की बूँदें मोतियों सी चमक रही थीं।

मोटर निर्जन जंगल में रुकी।

धनसिंह ने इधर-उधर ताककर देखा—चारों ओर निर्जनता थी। हाँ, आकाश में चीलें और कौवे जरूर उड़ रहे थे।

वह मोटर से उतरकर गायत्री के पास आया। गायत्री का चेहरा इस तरह से उतरा हुआ था जैसे वह कोई महा अपराध करके आई हो, जैसे उसने किसी का खून कर दिया हो। वह चित्रलिखित-सी बैठी थी भावशून्य, बेजान।

धनसिंह गायत्री के पास बैठकर उतावली से बोला—"गायत्री बाई सा, जल्दी से कपड़े बदल लीजिये।"

"कैसे कपड़े ?"

पाँव के नजदीक पड़ी गठरी की ओर संकेत करके धनसिंह बोला—"इस गठरी में जो कपड़े हैं वह पहन लीजिए।"

गायत्री ने गठरी उठाकर उसे खोला।

गठरी में एक चूड़ीदार पाजामा, एक कोट, एक कमीज, एक साफा और एक जूती थी—राठौड़ी मजबूत जूती।

"यह कैसे कपड़े ?" आश्चर्य में पड़ गई गायत्री।

"आप ये कपड़े नहीं पहनेंगी तो हमारा भेद कैसे छिपा रहेगा ?"

"हाँ-हाँ !" अन्यमनस्क-सी गायत्री ने यंत्रवत् सिर हिला दिया और तुरन्त अपने कपड़े उतारने लगी। कपड़े उतारते-उतारते उसे धनसिंह की उपस्थिति का ख्याल आया। उसने उससे कहा—"आप बाहर जाइये ठाकुर सा।"

धनसिंह बाहर चला गया।

गायत्री ने कपड़े बदले और बाद में पक्की मर्द बन गई।

जैसे धनसिंह ने मोटर में प्रवेश किया, वैसे ही गायत्री ने एक पल अपने कपड़ों पर नज़र डालकर कहा—"और तो सब ठीक हैं पर कोट कुछ ढीला लग रहा है।"

"अन्दाज से लाया हूँ, मेरे पास आपका नाप थोड़े ही था।"

गायत्री ने न जाने क्यों मुस्करा दिया, वह खुद नहीं समझ सकी।

मोटर फिर चली।

चलती मोटर में ही धनसिंह ने अपनी कोट की जेब में से बनावटी मूँछें निकालकर गायत्री को दीं—"लीजिये, जरा इन्हें भी लगा लीजिये, फिर कौन माई का लाल है जो आपको पहचान सके।···और हाँ, अपने कपड़ों की एक गठरी बाँध दीजिये।"

गायत्री ने उसकी आज्ञा का पालन किया।

मोटर ने राजगढ़ में प्रवेश किया।

गायत्री के तन और मन में एक विचित्र-सा रोमांच हुआ। उसे खड़े हुए ड्योढ़ीदारों की नजर ऐसी जान पड़ी जैसे वे उसे पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। जैसे वे उसके नक़ली भेष का राज़ जान गये हैं। उसकी आँखों में भय और स्थिरता आ गई। उसे ऐसा भी महसूस हुआ कि एक ड्योढ़ीदार उसके बनावटी भेष के रहस्य को जानकर विडम्बना की हँसी हँस रहा है। यह अनुभूति उसे बहुत बुरी लगी। उसे अपने आप पर गुस्सा आया।

वह धनसिंह के साथ कब मानसिंह के कमरे के आगे पहुँची, वह नहीं जान सकी। लेकिन जैसे ही धनसिंह ने मानसिंह के आगे झुककर 'खम्मा' कि वैसे ही गायत्री चौंक पड़ी। झटपट उसने सिर झुका दिया। उसके मुँह से 'खम्मा अन्नदाता' निकल पड़ा।

मानसिंह ने तुरन्त पहचानने का जतन करते हुए पूछा—"यह कौन है, ठाकुर सा ?"

"अपने एक मित्र !"

"और वह ?"

"वह···!"

"·······।" मानसिंह ने धनसिंह को जलती हुई निगाहों से देखा। गुस्सा उसकी आँखों में चिनगारियों सा चमक रहा था।

"मैं तो ठीक समय पर गाड़ी लेकर पहुँच गया था पर वह खुद नहीं आई।" धनसिंह ने सफाई के स्वर में कहा।

मानसिंह आँखें तरेरता हुआ गुर्राया—"यह तो मुझे पहले से ही पता था।···अरे जो रोता हुआ जायेगा, वह मरे का ही समाचार लेकर आयेगा।"

मानसिंह खिड़की के पास खड़ा हो गया।

आकाश में तारे टिमटिमाने लगे थे।

धनसिंह ने इस उलाहने को नजर-अन्दाज करते हुए कहना शुरू किया—"आप मेरे मित्र से मिलिये।" आप···।

गायत्री को धनसिंह की इस बेवकूफी पर गुस्सा आ गया—"क्या यह बच्चों की तरह नाटक कर रहा है ?"—वह मन ही मन धनसिंह पर झल्लाई—"क्यों नहीं वह जल्दी से काम निपटा देता ?"

उसने धनसिंह की ओर गुस्से से देखा।

धनसिंह ने झूठी हँसी हँसने का प्रयास किया। वह मानसिंह के पास जाकर निवेदन-भरे स्वर में बोला—"आप मेरे मित्र को एक नजर देखिये

तो सही।" धनसिंह भी अपनी बात को, अपने नाटक को अब आसानी से खत्म करना नहीं चाहता था।

"कह दो उन्हें कि आज हमें फुर्सत नहीं है।"

"यह धनसिंह क्या कर रहा है ?"—गायत्री का गुस्सा बढ़ने लगा। अब वह पछता रही थी। अब उसका भीतरी हृदय कह रहा था कि यहाँ आकर उसने अच्छा नहीं किया।

"युवराज जी, जरा देखिये न···।"

"हमने कह दिया है कि आज···।"

धनसिंह ने बीच में ही कहा—"यह आपकी गायत्री···।"

"क्या कहा ?"—तपाक से मानसिंह ने अपना पोज बदला।

"गायत्री।"—धनसिंह ने अपना सिर झुका दिया।

"गायत्री !"—मानसिंह ने एक बार फिर दुहराया गायत्री के नाम को।

"पहचान लीजिये।" दलाल की तरह निर्लज्जता की हँसी हँसकर धनसिंह ने कहा।

मानसिंह के होंठों पर खुशी नाच उठी। उन्होंने गौर से गायत्री को देखा। गायत्री का चेहरा एक पल के लिये बिलकुल उदास हो गया, शर्म से सफेद पड़ गया और दूसरे ही पल उसके होंठों पर फीकी मुस्कान नाच उठी। उस मुस्कान में अजीब विवशता नजर आ रही थी।

मानसिंह उसे छूने के लिए जैसे ही आगे बढ़ा कि धनसिंह ने उसे रोककर बाहर चलने का संकेत किया।

अब गायत्री किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई।

मानसिंह ने डाँटा—"ठाकुर सा अब आप बाहर जाइये।"

"नहीं सा।" उसने मुस्कान के साथ कहा।

"क्यों ?"

"मैंने अपनी जान जोखिम में डालकर आपका काम किया है···अब

आप मुझे मेरा इनाम दीजिये।"—धनसिंह अपनी आँखें मटका रहा था।

"ठाकुर सा! इनाम में भी आपको फर्क जान पड़ता है? इनाम आपको सोलह आने मिलेगा, अब तो आपको तसल्ली हो जानी चाहिये।"

"हो गई सा, हो गई।"—धनसिंह शीश झुकाकर बाहर चला गया।

कमरे में एक पल मौत-सी खामोशी छा गई।

गायत्री का सिर जमीन की ओर झुका हुआ था और मानसिंह एकटक उसके चाँद से सुन्दर मुंख को देख रहा था।

कमरे में वैभव तैर रहा था। विलास सुगंध की तरह उसकी हरएक वस्तु में बस गया था। मानसिंह जिस वस्तु की ओर नज़र उठाता था उसे वह उत्तेजना देता हुई ही जान पड़ती थी।

उसने गायत्री के दोनों कन्धों को पकड़कर काँपते स्वर में धीरे-धीरे कहा—"बड़ी हिम्मत की आपने गायत्री बाई, किसी को शक-बक तो नहीं हुआ।"

गायत्री ने नकारात्मक-सूचक सिर हिला दिया। उसकी पलकें शर्म से झुक गईं। मानसिंह के स्पर्श से उसका रोम-रोम सिहर उठा। उसने बोलने के लिये अपने होंठ फड़फड़ाये पर शब्द उसके मुँह से नहीं निकले।

उसने अपनी निगाहें मानसिंह पर जमा दीं। न जाने मानसिंह की नज़र क्यों झुक गई?···शायद उसकी ग़ैरत भी शर्म का बोझ नहीं उठा सकी।

"मुझे छोड़ दीजिये।" वह एकदम कह उठी।

मानसिंह ने पूर्ववत् स्वर में कहा—"आप मर्दानी पोशाक में बिलकुल मोट्यार[1] जान पड़ती हैं। बहुत चोखी लगती हैं।······आप तो उदास

---

१. जवान।

हो गई गायत्री बाई, क्या बात है ?"

"मुझे यहाँ डर लगता है।"

"डर किस बात का ?"

"जब मैं गढ़ में घुसी थी तब मुझे ऐसा जान पड़ा, ऐसा जान पड़ा······।"

"कैसा जान पड़ा ?" मानसिंह की आँखों में भय नाच उठा।

"जैसे ड्योढ़ीदारों ने मुझे पहचान लिया है।"

"यह आपका वहम है।"

"लेकिन अधिक देर हो गई तो ?···मेरे नानाजी की इज़्ज़त धूल में मिल जायेगी ···आप···।" कल्पना वस्तुजगत पर आ रही थी।

मानसिंह को यह बहुत बुरा लगा। उसे अचरज हुआ कि इस गायत्री को हो क्या गया है ? पहले जब कभी वह मिलती थी तब उसकी चिड़िया की तरह चक्-चक् एक मिनट के लिये भी बन्द नहीं होती थी लेकिन आज तो इस पर घड़ों पानी गिर गया है। एकदम हाथ-पाँव ढीले करके बैठ गई है।···जड़ हो गई है। वह क्या करे ?

मानसिंह धनसिंह के पास आया।

धनसिंह ने पहले-पहल कहा—"अन्नदाता ! यहाँ अधिक ठहरना अच्छा नहीं है। कहीं किसी को जरा भी शक हो गया तो जान की ख़ैर नहीं।"

"तो ?"

"कहीं और ले चलिये न।"

"पर कहाँ ?"

"अपने सोनपुर का किला खाली होगा ?"

"हाँ।'

"वहीं ले चलिये, क्या ख्याल है आपका ?"

"बहुत खूब !···आप मोटर तैयार रखिये, हम गायत्री बाई को लेकर आते हैं।"

मानसिंह उतावली से कमरे में आया और गायत्री का हाथ पकड़कर कहा—"चलिये, हमारे साथ।"

"कहाँ ?"

"अभी तो चलिये, यह सब बाद में बताते रहेंगे।"

दोनों कमरे के बाहर आये।

नागिन और संपेरा

मोटर सड़क पर तेजी से भागी जा रही थी।

उत्तर में २० मील की दूरी पर मानसिंह के पूर्वज के नाम पर यह छोटा-सा गाँव बसा हुआ था। इसको बसाने वाले महाराजा सोनसिंह थे, इसलिये ही उन्होंने इसका नाम सोनपुर रखा। इस गाँव में पचास-साठ घर की आबादी थी। आबादी से काफी दूर एक अत्यन्त भव्य राजमहल था। राजमहल से थोड़ी दूर पर एक तालाब था।

इस महल का उपयोग राजवंशी तभी करते थे जब वे शिकार खेलने आते थे—अंग्रेज़ों के साथ। तब इस महल की रौनक ही बदल जाती थी। अंग्रेजों के साथ यहाँ शराब के दौर चलते थे, शहर की खानदानी वेश्याओं का तीन-तीन, चार-चार दिन तक नृत्य होता था। सबसे महत्वपूर्ण यहाँ जो बात होती थी वह थी—रियासत में उठते हुये जन-जागरण को किस तरह रोकना है? क्योंकि इधर सारे भारत-वर्ष में अंग्रेजी राज्य-सत्ता के विरुद्ध जो विद्रोह की चिनगारियाँ सुलग रही थीं, उसने अपना असर सारे भारतवर्ष में किया था।

राजगढ़ से थोड़ी दूर पर ही मानसिंह ने धनसिंह को छोड़ दिया था और जब मानसिंह गायत्री के साथ सोनपुर के महल में दाखिल हुआ तो

पहरेदारों की बुद्धि चक्कर में पड़ गई। वे समझ नहीं पाये कि आज श्री युवराज बिना किसी खबर के एकाएक यहाँ कैसे पधार गये ?

गायत्री बेजान-सी थी—चंगुल में आए शिकार की तरह जकड़ी हुई।

मोटर से उतरकर वे दोनों जैसे ही कमरे में घुसे वैसे ही मानसिंह ने एक इतमीनान की साँस ली। और गायत्री के मन में भयानक विचार उठा—'कोई मेरे यहाँ आने के बाद मेरे सासरे चला तो नहीं गया है ?'···वह काँप उठी।

और उसने आँखें फाड़कर मानसिंह से कहा—"अन्नदाता, वापस चलिये,···वापस चलिये।"—गायत्री का सारा शरीर काँप रहा था।

"क्यों ?"

"मैं कहती हूँ वापस चलिये, मैं यहाँ दम भर भी नहीं ठहरूँगी, चलिये न ?"—उसके स्वर में कड़ा आग्रह था।

आपके अन्दर जरा भी थावस नहीं है। घड़ी-घड़ी आपके हिये में नयी-नयी हिलोरें उठती हैं। आये हैं तो चलेंगे भी, पर आप इतना घबराती क्यों हैं ?"

"मैं घबराती क्यों हूँ, आप नहीं जानते युवराज जी कि मुझे अभी कितना डर लग रहा है ?"—गायत्री के ललाट पर पसीना चमक उठा और मानसिंह की मुट्ठियाँ बँध गईं—"अब आप यहाँ से नहीं जा सकतीं, समझीं !"

"क्यों नहीं जा सकती ?"—भड़क उठी गायत्री।

"इसलिये कि मेरी मर्जी नहीं है।"—मानसिंह ने लपककर उसकी मूँछें उखाड़ दीं। वह दौड़कर बिस्तरे पर जा पड़ी। उसने अपना सिर दो तकियों के बीच छुपा लिया। उसे महसूस हुआ कि उसकी नौकरानी उसकी सास के पास जाकर पूछ रही है कि गायत्री बाई नहीं आई क्या ? और उसकी सास उत्तर देती है कि उसके यहाँ बीनणी (बहू) आई ही

नहीं। वह आकर मेरे पीहर कहती है। मेरी माँ अपने बाप को खबर पहुँचा देती है और देखते-देखते सारे शहर में यह खबर फैल जाती है कि दीवान सेठ हुक्मचन्द माहेश्वरी की दोहिती भाग गई,······भाग गई।······भागेगी क्यों नहीं ? बड़े घर की बेटी है न ···!

चोट खाए साँप की तरह वह फुत्कार उठी—"मैं अपने घर जाऊँगी,······मुझे अपने घर जाने दीजिये।"

"घर !"—मानसिंह अट्टहास कर उठा। सामने रखी टेबल से शराब की बोतल उठाकर, उसकी शराब को बिना गिलास में ढाले ही पी गया।

"मैं आपके पाँव पड़ती हूँ अन्नदाता, आपकी गाय हूँ, मुझे अपने घर जाने दीजिए, नहीं तो मेरे नाना की इज़्ज़त मिट्टी में मिल जायेगी।"—उसने मानसिंह के पाँव पकड़ लिये।

"यह सब पहले ही सोच लिया होता, और हम भी राजा के युव-राज हैं! हमारी इज़्ज़त से तुम्हारी इज़्ज़त कोई बड़ी नहीं।"

"पर मुझे अभी अपने घर···।"

"झट से कपड़े खोल दो।"

"जोर-जबरदस्ती मत कीजिए अन्नदाता,···मुझे बहुत डर लग रहा है, मुझे घर पहुँचा दीजिए।"—गायत्री का चेहरा नवजात शिशु की तरह भोला हो गया था। उस पर पवित्रता झलक रही थी। करुणा मूर्त्त हो उठी। इतनी निश्छल वह लग रही थी जैसे सवेरे का गुलाब और उसका प्रत्येक अङ्ग गुलाब की निष्कलङ्क पंखुड़ियाँ।

"हम कहते हैं कि गायत्री बाई हमारा कहना मान लो।"—मान-सिंह शराब के नशे में धत् हो गया। वासना उसकी आँखों में दहक उठी। उसके हाथ खूँखार खूनी पंजों के सदृश गायत्री की ओर बढ़े। गायत्री डरती हुई अपना अस्तित्व कोने में मिटा रही थी। मानसिंह के खूनी फौलादी हाथ तब गायत्री के चारों ओर ज़हरीले साँप की तरह

लिपट गये और मानसिंह आदिम युग के बर्बर मानव की तरह उसके जिस्म को नोचने लगा।

आकाश मौन था और धरती के वक्ष में पीर भरी थी।

देख सकल जन रोय

अभी रात के दस ही बजे थे।

शहर का शेष कोलाहल शान्त होकर क्षितिज की ओर जा रहा था। सेठ किसनचन्द जी अपनी गद्दी में बैठे-बैठे सात-पाँच कर रहे थे कि नौकरानी 'होली' ने आकर उन्हें बधाई दी—"बधाई है सेठजी, आपके दोहिता हुआ है।"

सेठजी ने तुरन्त सेठानी जी को यह समाचार पहुँचाया और कहा कि समधी जी की नौकरानी होली को २१ रुपये बधाई के दे दिये जायँ।

"जितना आपका जी चाहे उतना दीजिये, ऐसे दिन बार-बार थोड़े ही आते हैं।" —सेठानी जी ने सेठजी की बात की पुष्टि की।

बधाई इस बात की थी कि गायत्री की बड़ी बहिन सावित्री के लड़का हुआ था। सेठानी जी ने तुरन्त अपनी नौकरानी 'मघा' को गायत्री के सासरे रवाना किया और कहा कि हो सके तो उसे अपने साथ लेते आना।

मघा ने जाकर गायत्री की सास से कहा—"बधाई है सेठानी जी, सावित्री बाई के लड़का हुआ है।"

सेठानी ने तम्बाकू सूँघकर कहा—"मेरी ओर से बीनणी को भी बधाई देना, कहना कि आप भी मेरे घर में ऐसी ही थाली बजवायें, मैं उन्हें सोने का नई फैशन का हार बनवा कर दूँगी।" और मघा कुछ

पूछे इसके पहले ही सेठानी जी बोलीं—"सुन मघा, बीनणी को कह देना कि आज यहाँ आने की जरूरत नहीं है।"

यह सुनते ही मघा की रग-रग में बिजली दौड़ गई। वह हतप्रभ-सी होकर सेठानी जी की ओर देखने लगी। सोचने लगी 'यहाँ नहीं आई तो गायत्री बाई कहाँ चली गई ?'—पर मघा थी खूब ही समझदार। झट से होंठों पर बनावटी हँसी लाकर बोली—"अच्छा सगी जी, अच्छा मैं गायत्री बाई को कह दूँगी, आती-जाती तो आज वह क्या ही ?"

मघा ने हवा की भाँति आकर सेठ किसनचन्द जी को यह बात बताई। सेठजी के नीचे की जमीन खिसक गई। हक्के-बक्के से सेठानी जी के पास आकर बोले—"सुना गायत्री की माँ, गायत्री अपने सासरे नहीं है।"

"सासरे नहीं है, यह आप क्या कह रहे हैं ?"—विस्मय से आँखें फाड़कर सेठानी जी बोलीं।

"मघा अभी-अभी उसके सासरे जाकर आई है। यह तो मघा समझदार थी, नहीं तो मेरे धोलों[1] में धूल पड़ जाती।"—सेठजी के स्वर में घोर पश्चात्ताप था।

"फिर कहाँ मर गई ?" अपार प्रसन्नता में इस प्रकार की एकाएक गड़बड़ी पैदा होने पर सेठानी जी झल्ला पड़ीं।

"मैं क्या जानूँ ? मैं उसके पीछे-पीछे थोड़े ही रहता हूँ।—ऐ मघा ! तू दौड़कर श्यामली के घर जा, कहीं वहीं तो बातों में जम नहीं गई है ? कैसी निखट्टू है री ?"

मघा दौड़ी। इधर सेठजी ने उतावली में आस-पास के दो-चार घर ढूँढ़ डाले पर गायत्री का कहीं भी पता नहीं लगा।

समय व्यतीत होता गया। रात के बारह बज गये। लाचार सेठजी ने दीवान साहब को यह खबर पहुँचाई।

---

१. सफेद बालों

हुक्मचन्द जी थे तो दीवान ही पर थे आखिर बनिये के जाये ही। उन्होंने जब यह सुना तो उनकी धोती ढीली हो गई। तुरन्त रात के बारह बजे ही महाराजा साहब के पास पहुँचकर कहा—"अन्नदाता! आज तो आपकी छोटी बेटी गायत्री का पता नहीं है। अड़ोसी-पड़ोसी सगे-सम्बन्धी सब जगह ढूँढ मारी है।"

"क्या कहते हैं दीवान जी, ऐसा अन्धेर हमारे राज्य में कभी हुआ ही नहीं है?" अन्नदाता का स्वाभिमान बोला।

"हुआ तो नहीं है पृथ्वीनाथ लेकिन आज कुछ न कुछ जरूर हुआ है। क्योंकि जब मैं घर से निकला तब मेरी बायीं आँख फड़की, रास्ते में बिल्ली ने मोटर के रास्ते को काटा, अब मैं सन्देह करूँ, उसमें मेरा दोष ही क्या है?"—एक साँस में बोल गये दीवान जी।

"वहम की कोई दवा नहीं है दीवान जी, फिर भी हम जतन करेंगे कि बाई सा कहाँ है?"—कहकर अन्नदाता ने क्षणभर के लिए चुपी साध ली। तभी ड्योढीदार ने आकर अर्ज किया—"अन्नदाता ने घणी-घणी खम्मा! सोनपुर से सिपाही कोई गुप्त सन्देश लेकर आया है, वह आपकी सेवा में इसी वक्त हाजिर होना चाहता है।"

'सोनपुर से!" घड़ी भर सोचा और निर्णय दिया—"उसे हमारे पास इसी समय भेज दो।"

"मैं बैठक-खाने में बैठा हूँ अन्नदाता!"—कहकर दीवान जी बैठक-खाने की ओर उधेड़बुन करते धीरे-धीरे बढ़ गये।

सिपाही ने साष्टाँग प्रणाम करके कहा, "अन्नदाता ने घणी-घणी खम्मा! अर्ज यह है कि आज युवराज मानसिंह जी एक अजनबी जवान के सागे[1] सोनपुर महल में विराज रहे हैं।"

"युवराज और सोनपुर!"—तनिक भौंहों को वक्र करके अन्नदाता ने पूछा—"तुमने गौर से उस युवक को देखा है?"

---

१. साथ।

"नहीं अन्नदाता ! क्योंकि युवराज जी ने तुरन्त उसे कमरे में दाखिल करा लिया था। युवक बिलकुल गोरा-चिट्टा था और युवराज ने हमें आज्ञा दी थी—'महाराजा को इस बात का पता न हो, यदि हो गया तो हम तुम सब पहरेदारों को जिन्दा कोल्हू में पिसवा देंगे।' तब हमारी शंका और बढ़ गई। हम सबने सोचा कि यदि इसकी खबर आपको नहीं दी गई और कोई बेइज्जती का काम हो गया तो राजकुल पर कलंक लग जायेगा।"

गंभीरता से उसकी ओर पैनी निगाह से देखते हुए अन्नदाता बोले—"जरा यह बताओ, उस युवक ने पहन क्या रखा था ?"

"चूड़ीदार पाजामा, उस पर कोट, सिर पर साफा !"

"और···?"

"यदि अन्नदाता सातों गुनाह माफ करें तो एक बात अर्ज करूँ, जिसकी मुझे शंका है !"—कहकर पहरेदार धरती की ओर एकटक देखने लगा।

"कहो !"

"अन्नदाता ! उस युवक की छाती उठी हुई थी, मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह कोई 'जनाना' है !"—डरते-डरते पहरेदार ने अपने वाक्य को समाप्त किया।

महाराजा चौंके। उन्होंने पहरेदार से कहा—"तुम रात भर यहीं ठहरना"—और उनके कर्ण-कुहरों में कल के एक गुप्तचर के कहे शब्द गूँज पड़े—"आज दोपहर को युवराज जी के सहायक युवराज जी की मोटर पर सेठ किसनचंद जी के घर पधारे थे।"

काफी सोच-विचारकर राजाजी ने मन ही मन कुछ निर्णय किया। दीवान जी तो विमूढ़ से हो गये थे। न वे कुछ बोले और न वे कुछ हिले-डुले।

एक उद्विग्न की तरह वे राजाजी को देख रहे थे—खोई हुई भाव-भंगिमा से राजाजी ने कहा—"चलिये दीवान जी।"

ग्रौर सोनपुर की ग्रोर मोटर चली ।

राजाजी ग्रौर दीवान जी दोनों बिलकुल चुप थे ।

रात के तीन बज चुके थे । गहरी शून्यता छाई हुई थी । उस शून्यता के वक्ष को चीरती हुई राजा साहब की मोटर पचास की स्पीड से चल रही थी ।

मोटर सोनपुर पहुँची ।

पहरेदार हक्के-बक्के से एक-दूसरे को देखने लगे । उनके कंठ-स्वर से घणी-घणी खम्मा ग्रन्नदाता की ध्वनि भी ग्रत्यन्त धीमे से ही निकली ।

ग्रन्नदाता ने जो सबसे ग्रागे पहरेदार खड़ा था, उसे कड़ककर पूछा—"युवराज कहाँ है ?"

"ग्रन्नदाता ! बीच के कमरे में ।"

"चलिये दीवान जी, ग्राज हम ग्रापको ग्रपनी उछली हुई पगड़ी बतायेंगे ।"—कहकर ग्रन्नदाता बीच के कमरे की ग्रोर बढ़े । दीवान जी उनके पीछे संकल्प-विकल्प करते चलने लगे ।

बीच के कमरे की रोशनी का हल्का प्रकाश ऊपर के वातायनों से ग्रा रहा था । ग्रन्नदाता ने ग्रर्थ-भरी दृष्टि से उस प्रकाश की ग्रोर देखा फिर ग्रत्यन्त सावधानी से किवाड़ खटखटाने लगे ।

भीतर से ग्रधिकारपूर्ण स्वर गूँज पड़ा—"कौन है ?"

ग्रन्नदाता ने ग्रपनी ग्रावाज को बदलते हुए कहा—"जी, माई-बाप, मैं !"

"पहरेदार ऊदलसिंह !"

"जी !"

द्वार खुला । खुलने के साथ मानसिंह उस ग्रोर बिना देखे ही बोला—"बस, ग्रब हम जा···।"

"कहाँ जा रहे हैं ग्राप ?"—राजा साहब व्यंगात्मक स्वर में बोले ।

युवराज का ग्रंग-प्रत्यंग काँप उठा । नसों का खून जम गया । पुत-लियों की गति में स्थिरता ग्रा गई ।

मन ही मन मानसिंह सोचने लगा—"महाराजा यहाँ कैसे पधार गये ?"—और हकलाता हुआ बोला—"आप···!"

"हाँ हम, कहो यह कौन है ?"—राजा साहब बाज की भाँति मानसिंह की ओर बढ़े।

"यह, यह मेरा क्लास-फैलो (सहपाठी) है।"

दीवान साहब अपनी दोहिती को बड़े ग़ौर से देख रहे थे। उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे उन्होंने इस युवक को कहीं न कहीं देखा अवश्य है। वे अपनी स्मृति को झकझोरने लगे।

और राजा साहब मानसिंह पर तपे हुए तवे की भाँति सुरंग होकर बोले—"युवराज ! झूठ उतना ही भला लगता है जितना आटे में नमक। सच-सच बताओ यह कौन है ?"

"यह···यह ···।"

तभी गायत्री भय के मारे चीख पड़ी—"मैं···मैं !"

दीवान जी जोर से चीख पड़े—"गायत्री !"

"देखा दीवान जी, आपने अपने खून और हमारे खून का असर !"—क्रोध से दाँतों को किटकिटाते हुए राजा साहब बोले।

दीवान जी के तो तन में साँस ही नहीं रही ! किंकर्त्तव्यविमूढ़ से राजा साहब की ओर देखकर गायत्री पर टूट पड़े—"हरामजादी ! यह दिन दिखाने के पहले तू मर जाती तो अच्छा होता, कलमुँही ! तुझे ऐसा नीच काम करने को क्या युवराज जी ही मिले थे ? कमीनी, जी तो चाहता है तुझे यहीं पर जिंदा गाड़ दूँ।"

"नाना जी !"—गायत्री चीख पड़ी।

"चुप रह बदजात।"—दीवान जी ने उसके सिर पर लात मारी।

"मुझे जान से मार दीजिये, मारिये न, नाना जी, मुझे मार डालिये।"—गायत्री ने रोते-रोते जमीन पर सिर पटक दिया—"मैं बेकसूर हूँ, दीवान जी मुझे···।"

"चुप रह, मेरा नाम जबान पर लेते हुए तुझे शर्म नहीं आती है,

निर्लज्ज !"—एक ज़ोर की ठोकर दीवान जी ने गायत्री के सिर पर फिर मारी। पर उसने जमीन पर लोटना बन्द नहीं किया।

"दीवान जी! इस गरीब लड़की पर इल्जाम क्यों लगाते हैं? इस नादान को क्यों सताते हैं?···जरा हमारे सपूत को देखिये न, मान, अभिमान और राजपूती आन को छोड़कर बहिन को लेकर ऐश फरमा रहे हैं। अरे दुष्ट! जी तो चाहता है कि तुम्हें गोली से उड़ा दें, न अपनों का ज्ञान, न परायों का ध्यान! जरा हमें बता तो, क्या तुम्हारे बाप-दादों ने भी रैयत की लड़की भगाई थी?···जरा भी लज्जा है तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरो!"

"अन्नदाता!"—मानसिंह राजा साहब के पाँवों में पड़कर क्षमा याचना करने लगा—"मुझे माफ करदो अन्नदाता!"

"माफी माँगते तुम्हारी जबान तालू से चिपक नहीं जाती!" अन्नदाता ने उसे ठोकर मार दी—"अपना यह काला मुँह हमें फिर मत दिखाना।"

अन्नदाता वहाँ से खिसके। पीछे-पीछे दीवान जी अपने हाथों में अपनी पगड़ी लिये गिड़गिड़ा रहे थे—"अन्नदाता! मेरी लाज आपके पगों में है। बात बाहर नहीं जानी चाहिये।···बात बाहर चली गई तो मेरी नाक कट जायेगी। मेरी इज्जत-आबरू खाक में मिल जायेगी।"

"आपकी नाक कटेगी तब कटेगी लेकिन हमारी नाक तो कट ही गई है दीवान जी! कैसा कुलक्षण लड़का दिया है भगवान् ने?"

"फिर भी माई-बाप!"

"अच्छा!···अच्छा!!"—हाथ का फटकारा देकर झल्ला पड़े राजाजी।

और फिर दो मोटरें शहर की ओर चल पड़ीं।

रात का अँधेरा फीका पड़ने लगा।

राजा साहब मोटर में दीवान जी के पास बैठे-बैठे सोच रहे थे—"कल सूरज उगते ही दीवान जी को नोटिस दे देना चाहिये, और

दीवान जी मन-ही-मन अपनी दोहिती को बद्दुआयें दे रहे थे—"कैसी अशुभ घड़ी में यह जन्मी थी। अब मुझे अन्नदाता अपना दीवान नहीं रखेंगे।"—और दीवान जी ने तुरन्त मोटर में ही अन्नदाता के पाँव पकड़ लिये—"माई-बाप ! इसमें मेरा कोई कसूर नहीं है, मेरी इज्जत आपके हाथ है।"

"दीवान जी ! आप अपनी लड़कियों की देख-रेख नहीं रखते, तभी तो ऐसी घटनायें हो जाती हैं, वर्ना क्षत्री का बच्चा भला ऐसा कुकर्म कभी कर सकता है ?···हम जान छोड़ सकते हैं पर अपनी आन नहीं छोड़ सकते।"

तब दीवान जी ने मन ही मन सोच लिया—'मेरी दीवानगी गई !'—और हिंस्र पशु की तरह अपनी नालायक दोहिती की ओर देखा जो दोनों हाथों से सिर छुपाकर सिसक-सिसककर रो रही थी।

मोटरें गढ़ की ओर तेजी से बढ़ रही थीं।

जैसे साँपनाथ, वैसे नागनाथ

सवेरा हो गया था।

सूरज की सोने-सी चमकदार किरणें मानसिंह के कमरे के रेशमी पर्दों को चीरती हुई आ रही थीं। हवा का हल्का-हल्का झोंका पर्दों को हौले-हौले हिला रहा था।

मानसिंह गोल मेज के पास की कुर्सी पर बैठा हुआ अंगूर कम मात्रा में खा रहा था लेकिन नष्ट बड़ी मात्रा में कर रहा था। उसके चेहरे पर घोर निराशा थी। ऐसा मालूम होता था जैसे वह किसी गंभीर विचार

में खोया हुआ है। अभी पाँच पल भी नहीं बीते थे कि उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

द्वार खुलने की आहट ने मानसिंह को चौंका दिया। उसने निगाह उठाई—सामने धनसिंह खड़ा-खड़ा आँसू बहा रहा था। मानसिंह ने शान्त स्वर में पूछा—"क्या बात है धनसिंह जी ?"

"महाराजा ने मुझे नौकरी से खारिज कर दिया है।"—उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

"चिन्ता मत कीजिये, उनके मरने की माला जपिये।"—घृणा से मुँह बिगाड़कर मानसिंह ने कहा—"आप मेरा मतलब समझे ?"

"ऐसा क्यों युवराज जी ? उन्होंने तो आपका लिहाज रखा है वर्ना ऐसे अपराधी को गधे पर बिठाकर, काला मुँह करके सारे शहर में घुमाया जाता है।"—धनसिंह ने मानसिंह को समझाया।

"छोड़िये न ठाकुर साहब, महाराजा साहब की बातों को !··· ···नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली।···हमने जरा सी मर्यादा भंग कर दी तो इनकी आन, शान, धर्म-कर्म, सबके सब दागी हो गये, पर आपने कौन-सी मर्यादा रखी है ?"—क्रोध ने सत्य का पर्दाफाश कर दिया। मस्तिष्क में छिपी हुई बातें नग्न होने लगीं। रहस्य हृदय की आकुलता में तड़पने लगे।

अपने स्वर को और तेज करता हुआ मानसिंह बोला—"आप नहीं जानते हैं ठाकुर सा ! इन राठौड़ों और राजपूतों की जूती ही इनका कानून है। इनकी अपनी इच्छा ही इनका असली धर्म है। इन्हें इनके नंगे रूप में वे नहीं जानते जो अनपढ़ हैं, गँवार हैं, जो इनके प्रति एक अन्धविश्वास रखते हैं। दरअसल ये कसाई से अधिक हृदयहीन और पत्थर से अधिक कठोर हैं !"

"कीचड़ में पत्थर मारने से कोई फायदा नहीं है। उल्टा अपने आपको गन्दा करना है।···आप मेरे लिये कोई प्रबन्ध कीजिये युवराज जी, वर्ना अन्नदाता ! मेरी इज़्ज़त धूल में मिल जायेगी।"

"ठाकुर सा ! हम आपको उतना ही पैसा हर माह दे दिया करेंगे । और दो-चार साल में अपने भाग्य का सितारा चमकेगा ही, फिर देखियेगा—पाँचों अंगुलियाँ घी में होंगी ।"

"भगवान आपकी मनसा जल्दी पूरी करें ।" कहकर धनसिंह ने तीन बार खम्मा की और चलता बना ।

अब सूरज की किरणें अंगारों-सी तपने लगी थीं । पवन की गति बन्द थी । लेकिन मानसिंह के विचारों के उतार-चढ़ाव में जरा भी अन्तर नहीं आया था । वह चहल-कदमी करता जा रहा था । अपने पिता के काले कारनामें आज उसके मस्तिष्क में आन्दोलन मचा रहे थे । आन्दोलन की चरम सीमा पर मानसिंह अपना धैर्य खो बैठा । उसने एक जोर का मुक्का मेज़ पर जमाया । सारा कमरा उस मुक्के की आवाज से गूँजकर इस प्रकार शान्त हो गया जैसे एक दर्दनाक चीख मौत के सन्नाटे में आ गई हो ।

मौत-सी चुप्पी घड़ी दो घड़ी रही । मानसिंह के मन की उद्विग्नता बढ़ती गई । अन्त में वह मखमली गद्दे पर चित्त लेट गया । उसकी आँखें राजा साहब के उस चित्र पर जम गईं जिसमें वे अपना 'तुलादान' करा रहे थे । एक बहुत बड़े तराजू के एक पलड़े में महाराजा बैठे हैं और दूसरी ओर सोने की सिल्लियाँ रखी हुई हैं । पंडित लोग मंत्रोच्चारण कर रहे हैं और रैयत अपने अन्नदाता की, अपने धर्मपरायण महाराजा की जय-जयकार कर रही है । उसने तनिक गंभीर होकर सोचा—'वास्तव में राजा साहब के दो रूप हैं । एक पाप की तरह काला और दूसरा धर्म की भाँति सफेद ।...केवल बनावट ही बनावट है इनके जीवन में !...कैसे बढ़-बढ़कर बातें बना रहे थे—तुमने हमारी नाक कटवा दी, रैयत की बेटी की इज्जत लूट ली...। पर मैं पूछता हूँ, आपने राजपूती आन में कौन-से चार चाँद लगा दिये थे ?... आपने भी तो सिटी मजिस्ट्रेट अब्दुल हकीम की निर्दोष—कुँवारी—कन्या का धर्म बिगाड़ा था !'

वह प्रातः समीर-सी पावन व अल्हड़ मासूम बेग़मपारा !

ज़िन्दगी के लाखों अरमान अपने छोटे-से दिल में बसाये वह अपनी मुहब्बत के कारवें को मंज़िल तब पहुँचने के सुनहरी सपने देखने में बेताब थी। कितनी शोख अदा थी उसकी और नृत्य में तो उसे कमाल हासिल था।

बात अभी पुरानी नहीं पड़ी थी।

यही एक साल गुजरा था। बेग़मपारा कालेज में अपना शैक्षणिक-जीवन व्यतीत कर रही थी और उसके पिता वकालत कर रहे थे। कालेज में इस बात की भी चर्चा थी कि बेग़मपारा नूरमुहम्मद से प्यार करती है, उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना चाहती है। बेग़म-पारा ने अपनी सखियों के समक्ष इस बात की छाती ठोंककर पुष्टि की थी; एक बार नहीं, कई बार, कि हम दोनों के प्यार के बीच जो दीवार बनकर आयेगा, वह अपनी मुँह की खायेगा।

पर सत्ता के ठेकेदार इस प्रकार के बड़े-बड़े इरादों को कहानियाँ ही बना देते हैं। राजा साहब के चंद ठाकुरों ने जो उनकी दलाली करते थे, इस बात की खबर दी कि वकील अब्दुल हकीम की पुत्री बहुत ही सुन्दर और आपके लायक है।

राजा साहब के मुँह से लार टपक पड़ी। जनता का बाप अपनी बेटी पर आँखें जमाने लगा। उन्होंने अपने ए. डी. सी. अनूपसिंह जी से पूछा—"इतनी कितनी फूटरी[1] है ?"

"अन्नदाता जितनी इन्द्र की परी।"

"सच !"—वासना की चमक से राजा साहब की आँखें दहक उठीं। मूँछों पर अनायास ही वे ताव देने लगे।

"फिर आप एक काम कीजिये ठाकुर सा ?"

"हुक्म कीजिये अन्नदाता, ताबेदार हाजिर है।"

---

१. सुन्दर

अनूपसिंह जी सिर झुकाकर बैठ गये ।

"आप दीवान जी से कहकर अब्दुल हकीम को सिटी-मजिस्ट्रेट बनवा दीजिये और जो अभी सिटी मजिस्ट्रेट है, उसका चन्द्रनगर में तबादला कर दीजिये ।"

हुक्म की तामील की गई ।

कचहरी के वकील, जज और छोटे-छोटे नौकर-चाकर इस अचानक हुए परिवर्तन के रहस्य को नहीं समझ सके । पर सब इस बात को निर्विरोध स्वीकार करते थे कि अब्दुल हकीम इस पद के योग्य अवश्य है ।

दीवाली के दिन गढ़ की रोशनी देखते बनती थी । गढ़ के गगन-स्पर्शी गुम्बजों पर जलते बल्ब तारों से प्रतीत हो रहे थे । ऐसे लग रहे थे जैसे आसमान धरती की ओर झुक गया है ।

अब्दुल हकीम को सपरिवार रोशनी देखने का राजा साहब की ओर से निमन्त्रण मिला था । निमन्त्रण पाकर वह कितना खुश हुआ था ! उसने अपने जाति-भाइयों को वह निमन्त्रण-पत्र दिखलाकर अपने रुआब और गुण की चर्चा की थी ।

गढ़ में जैसे ही अब्दुल हकीम अपने परिवार के साथ प्रविष्ट हुआ कि अनूपसिंह जी ने उनका 'जै माता जी' द्वारा अभिवादन किया । जब अब्दुल हकीम आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगा तो अनूपसिंह जी ठहाका लगाकर हँस पड़े—"पहचाना नहीं क्या मजिस्ट्रेट साहेब ?"

"नहीं ठाकुर सा ! गुस्ताखी माफ हो, मैं आपको नहीं पहचान सका !"—अत्यन्त कोमल-मधुर स्वर में हौले से अब्दुल हकीम बोला।

"मजिस्ट्रेट साहेब ! मुझे ठाकुर अनूपसिंह कहते हैं । अपने राजा जी का ए. डी. सी. हूँ ।"

"जै माता जी की ठाकुर सा !"—तपाक से हाथ मिलाता हुआ अब्दुल बाग़-बाग़ हो उठा ।—"आज खुदा की बहुत-बहुत मेहरबानी समझिये कि आपसे चार नजर और दोस्ती का मौका मिला ।·········
कोई हुक्म ?"—अब्दुल हकीम ने आदाब किया ।

"क्यों शर्मिंदा कर रहे हैं। हुक्म तो कोई आप हमें दीजिये।"—कहकर ठाकुर अनूपसिंह जी उनके परिवार की ओर संकेत करके पूछ बैठे—"यह आपकी बीवी है और यह ?"

"यह मेरी लड़की बेग़मपारा है। कालेज में थर्डइयर आर्ट की स्टूडेंट है।"—अब्दुस हकीम के स्वर में नम्रता थी।

"चलिये, मैं आपको अन्नदाता का खास निवास दिखलाऊँगा।"

"जैसी आपकी मर्जी!"—कहकर वे तीनों अनूपसिंह जी के पीछे-पीछे चल पड़े।

कितनी ही सीढ़ियाँ पार करके वे एक भवन के समक्ष गये। भवन के आगे कितने ही प्रकार के फूलों के गमले रखे थे।······आगे एक छोटा-सा बाग था। बाग में फौव्वारा था। लाल-हरी रोशनी में उसके पानी का रंग लाल-पीला दिखलाई पड़ रहा था।

जब वे खास निवास में पहुँचे तब अन्नदाता की सवारी पूजन के लिये जा रही थी, अतः अनूपसिंह जी ने पल भर के लिए उनसे दो बातें कीं और अब्दुल हकीम को आकर कहा—"आपकी तकदीर खुल गई!"

"कैसे ?"

"अन्नदाता फरमा रहे थे कि आदमी शरीफ जान पड़ता है। हमारी ओर से इसे कहना, 'तुम्हारी तरक्की एक राजपूत जैसी होगी।'······और कहा कि तुम अपनी बेटी को कल हमारी सेवा में भेजना। हम अपने राज्य की इस एजूकेटेड लड़की से अपनी गर्ल्स-कालेजों की उन्नति के बारे में चंद घड़ी बातें करेंगे।"—कहकर अनूपसिंह जी अब्दुल हकीम की ओर इस दृष्टि से देखने लगे कि इस पर उनके शब्दों की क्या प्रतिक्रिया होती है।

अब्दुल हकीम की बाछें खिल गईं।

ठाकुर अनूपसिंह जी को हाथ जोड़ता हुआ वह बोला—"ठाकुर सा! अपने गरीब-परवर अन्नदाता की मैं जितनी खिदमत करूँ, उतनी थोड़ी।······बताइये, कल लड़की को कितने बजे भेजूँ ?"

"यही दोपहर के दो-तीन बजे !"

"कहाँ ?"

"आप राज-निवास में ही भेज दीजिये। क्योंकि अन्नदाता सलाह-मसविरा वहीं पर करते हैं।"

"जो हुक्म !"

"जै माता जी की।"

"जै माता जी की।"—अब्दुल हकीम ने उन्हें सिर झुकाकर अभिवादन किया। बेगमपारा ने केवल हाथ से 'गुडनाइट' की।

दीवाली के दीये अब भी तारों की भाँति चमक रहे थे।

रात धीरे-धीरे ढल रही थी।

× × ×

दूसरे दिन दोपहर को बेगमपारा राज-निवास पहुँची। अनूपसिंह जी ने उसका हार्दिक स्वागत करके प्रतीक्षा-गृह में बिठा दिया। प्रतीक्षा-गृह में दो-चार अखबार पड़े थे, बेगमपारा उन अखबारों के पन्ने उलटने लगी।

अभी आधा घण्टा भी नहीं हुआ था कि अनूपसिंह जी ने आकर कहा—"आपको श्री जी साहब बहादुर बुला रहे हैं।"

तब बेगमपारा एक अत्यन्त सज्जित कमरे में लाई गई। अनूपसिंह जी उसे आदर से बिठाते हुए बोले—"आप यहीं बैठकर प्रतीक्षा कीजिये, मैं महाराजा को खबर देता हूँ।"

"जो हुक्म !"—राज-परम्परा के अनुसार उत्तर दिया बेगमपारा ने। वह बैठी-बैठी दीवार पर लगे चित्रों का निरीक्षण करने लगी। ये चित्र केवल राजा राजसिंह जी के ही थे, जिनमें उनकी विभिन्न मुद्रायें थीं। राजवी पोशाक में, कोट-पतलून में, शिकार खेलते, मरे सिंह के पास खड़े हुए और न जाने क्या-क्या ?

अप्रत्याशित उसे अपने पिता के शब्द याद आये। वह ध्यान से उन शब्दों पर विचारने लगी। पिता ने उसे आते-आते कहा था—"अन्न-

दाता से मेरी तरक्की के बारे में विनती करना, उनकी छत्रछाया में अपना सितारा बुलन्द होगा।"

अन्नदाता ने कमरे में प्रवेश किया। बेग़मपारा ने झुककर प्रणाम किया—"खम्मा अन्नदाता !"

"बैठो !"—उसकी ओर बिना देखे ही राजा साहब बोले—"क्या नाम है तुम्हारा ?"

"बेग़मपारा !"

"तुम तो हमारी 'रानी-कालेज' में पढ़ी ही होगी ?"

"जी हाँ।"

"टिच्चीग का कैसा स्टेण्डर्ड है ?"

"बहुत ही अच्छा।"

"उसमें क्या-क्या सुधार और किया जाय ?"—इस बार राजा साहब ने बेग़मपारा से अपनी नजरें चार कीं। बेग़मपारा प्रतापी राजा की नजरों का तप सहन नहीं कर सकी। उसने अपनी नजरें नीची कर लीं। लेकिन उसने एक पल के दृष्टि-मिलन में देखा, उसका उसने मतलब भी समझ लिया कि ये आँखें भूखी हैं, खूंखार हैं, भयानक हैं। जैसा सुनते हैं कि राजपूतों की आँखों से आग बरसती है, वैसे ही आग इनकी आँखों से बरसती है।

वह कुछ देर तक अपने विचारों को व्यवस्थित करती हुई हौले-हौले बोली—"सुधार क्या होने चाहियें, मैं क्या बता सकती हूँ। आप से ज्यादा मेरा दिमाग नहीं है अन्नदाता, फिर भी इतना कहूँगी कि ऐसे अच्छे कालेज बहुत कम संख्या में दूसरी जगहों पर हैं।"

"यह सुनकर हमारा हृदय बड़ा ही प्रसन्न हुआ है।······अच्छा, अब हम चलते हैं।" महाराजा उठने लगे।

"अन्नदाता से एक अर्ज है।"

"कहो-कहो, तुम्हारी अर्ज पर हम गौर करेंगे, तुम और तुम्हारे भोले चेहरे पर हम बहुत खुश हैं। बोलो ?—इस बार राजा साहब का

हाथ उसके कन्धे पर था। बेग़मपारा उनसे नैन से नैन मिलाती हुई बोली—"मेरे अब्बाजान की तरक्की···।"

बीच में अन्नदाता विहँसकर बोले—"हमें कहने की कोई आवश्यकता नहीं, माता जी की कृपा हुई तो तुम्हारे बाप की जल्दी ही तरक्की हो जायेगी।"

"अच्छा, अब हुक्म हो।"

"············!"—बिना बोले ही अन्नदाता कमरे के बाहर हो गये।

पन्द्रह दिन बीत गये।

महाराजा की वासना तृप्त नहीं हो सकी। उपाय पर उपाय किये गये लेकिन परवान चढ़ा बेग़मपारा का प्यार पंजे में नहीं आया। राजा साहब परेशान हो उठे। बार-बार वे अनूपसिंह जी पर झल्ला रहे थे।

तब आन पर बलिदान होने वाले ठाकुर अनूपसिंह जी बोले—"अन्नदाता! लड़के को ही चोरी के अपराध में जेल में क्यों नहीं बन्द करा दिया जाय जिससे वह लड़का बेग़मपारा के मन से उतर जायगा।··· उसके मन में दुराव पैदा हो जायगा।"

"कुछ भी किया जाय पर चिड़िया रनवासे में न आई तो धूल आपकी चाकरी को और राख आपकी अक्ल को।"

बस फिर क्या था?

राठौड़ों की जूती उनका कानून था ही। अनूपसिंह जी ने नूरमुहम्मद के एक पड़ौसी को मिलाकर ऐसा जाल फैलाया कि नूरमुहम्मद पकड़ा गया। उसके घर चोरी का माल बरामद कर लिया गया।

कानून ने उसे तीन साल का कठोर दंड दे दिया।

जज के सामने उसने कितना हृदय-विदारक क्रन्दन किया था—"मैं बेगुनाह हूँ, मैंने चोरी नहीं की जज साहेब! मुझे छोड़ दीजिये, मैं गुनहगार नहीं हूँ।"—पर कानून कानून ठहरा। उसे जेल के सींकचों में

बन्द कर दिया गया जहाँ उसका परवान चढ़ा प्यार सिसकते-सिसकते दम तोड़ने लगा।

बेग़मपारा के दिल पर इस घटना का विपरीत प्रभाव पड़ा। उसकी फूल की तरह मासूम और पहाड़ की तरह अडिग मुहब्बत ने अपना मुँह नूरमुहम्मद से फेर लिया। वह सोच बैठी—'वह अपनी कीमती जिन्दगी को चोर और जुआरियों जैसे अनाड़ी आदमियों पर कुर्बान नहीं कर सकती।' उस समय रही-सही नूरमुहम्मद के प्रति श्रद्धा को राजा साहब की उस तरक्की ने गायब कर दिया जिसने अब्दुल हकीम को जज के पद पर ला बिठाया था।

बेग़मपारा अन्नदाता के 'राज-निवास' में उनका इस बात का शुक्रिया अदा करने आई। अन्नदाता ने कहलवाया कि उसे कहो कि वह कमरे में इन्तजार करे, हम आ रहे हैं।

बेग़मपारा बैठी रही।

दोपहर बीत गया और रात आई।

अन्नदाता दुल्हिन की भाँति निःशब्द पाँव उठाते हुए उस कमरे में आये जहाँ बेग़मपारा प्रतीक्षा करती-करती थक गई थी, ऊब गई थी।

बेग़मपारा अन्नदाता को देखते ही बोली—"घणी-घणी खम्मा अन्नदाता ने! आज आपने बड़ी देर कर दी।"

"राज-काज का काम ठहरा, उलझ जाने पर आसानी से नहीं सुलझाया जा सकता है। बहुत सोचा कि जल्दी से तुम से बात करलूँ लेकिन बात उलझी हुई डोर की भाँति उलझती ही गई। कहो, अब तो तुम्हारा दिल राजी हो गया?"—राजा साहब के होंठों पर हल्की स्मित थी।

"आपकी मेहरबानी हो तो एक जर्रा भी सितारा बन सकता है।"—अहसान से दबे स्वर में बेग़मपारा ने उत्तर दिया।

"मेहरबानी माता भवानी की समझो और हाँ ··!"—कहकर राजा

साहब ने बाहर खड़े पहरेदार को पुकारा—"मेहरसिंह !"

"हुक्म अन्नदाता !"

"जाओ, अनूपसिंह जी से बोलो कि हम दो गिलास शर्बत मँगवा रहे हैं। स्पेशल शर्बत !"

"जो हुक्म !"—मेहरसिंह चला गया।

राजा साहब ने उसे प्यार से पूछा—"तुम ड्रिंकिंग करती होगी।"

"नहीं, एकदम नहीं।"

"क्यों ?"

"ऐसे ही !"

"क्या ऐसे ही, एक जज की माडर्न टाइप गर्ल को इतना पीछे नहीं रहना चाहिये···ड्रिंक करना तो आज का, ऊँची सोसायटी का फैशन है। हम तो तुम्हें पिलायेंगे ही।"

"आप जो हुक्म देंगे, वह हमारे सिर-आँखों पर होगा। आपका नमक खाते हैं, इसलिये आपका हुक्म बजायेंगे।"

बेगमपारा को डर था कि उसका ना करना शायद राजा जी का मिजाज गर्म न कर दे। इसलिये उसने हाँ कहा।

"तुम हो काफी समझदार !···तुम्हारी इस बात पर हम तुम्हें आलिशान बंगला देंगे लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि हमारी बातें बाहर न जायें।"

"ऐसा कभी हो सकता है।"—शर्म से उसने अपनी पलकें झुका लीं।

मेहरसिंह ने दो गिलास ह्विस्की लाकर दी।

तब दोनों पीने लगे।

फिर बोतल आई।

महाराजा उसे अपने हाथ से पिलाते गये और वह 'राजा जी नाराज

न हो जायें, उसके बाप का ओहदा न छीन लें' इस डर से वह विचार-विहीन बनी पीती रही।

बोतल खाली हो गई।

बेग़मपारा नशे में लुढ़क गई। धरती का अन्नदाता जोर से हँस पड़ा। उसने उसे आराम से बिस्तरे पर लिटाया। उसके रूप-यौवन को निरखा। उसके गालों को सहलाया और इसके बाद माई-बाप ने अपनी रैयत की बेटी यानी अपनी बेटी के कुँवारेपन को छल लिया।

सोचते-सोचते मानसिंह का मन चीख उठा। उसके हृदय का तार-तार घृणा और विद्रोह से झंकृत हो उठा। वह स्वतः बड़बड़ा उठा—"मैं आपकी तरह गया-बीता नहीं हूँ अन्नदाता! मैंने उसका हरण किया है जिसकी तबियत मुझ पर थी और आपने उसका धर्म बिगाड़ा है जो आपको अपने बाप की भाँति मानती थी।···आप जानते हैं—इसके बाद आपने उसके बाप को पुनः उसी हाल पर ला दिया जहाँ वह था। और बेचारी बेग़मपारा किसी एक्टर पर फिदा होकर भाग गई। अब उसका अब्बा अपनी बिरादरी में सीना ठोककर बोल नहीं सकता क्योंकि सब जगह यही चर्चा है—'तुम जज तो बने पर अपनी बेटी को बेचकर।'··· समझदार आदमी अच्छी तरह इस भेद को जानते हैं, मैं जानता हूँ, पर हो क्या सकता है? क्योंकि आप गद्दी के मालिक हैं, सब के अन्नदाता हैं।···अन्नदाता!"—कहते-कहते मानसिंह ने घृणा से मुँह बिचकाकर अन्नदाता के नाम पर थूक दिया।

भगवान जरा इन्सान बन !

इस घटना से रावले में विस्फोट हो गया ।

हालाँकि इस बात की भरपूर चेष्टा दीवान जी और राजाजी की ओर से की गई कि बात जरा भी न फैले पर सुनते हैं रहस्य-भरी बातें दीवारें भी सुन लेती हैं, उस समय उनके भी कान हो जाते हैं ।

मानसिंह ने रैयत की बेटी का जो अपहरण रात के अन्धेरे में किया था, वह दिन के उजाले में सारे गढ़ में फैल गया ।

रावले में युवराणी ने जब यह सुना तो उसको उतनी पीड़ा हुई जितनी हज़ार बिच्छुओं के काटने से किसी को हो सकती है। उसके हृदय में झंझा-सी उठी। कँपकँपी, गुस्सा, जलन और मर्मान्तिक पीड़ा की स्फुलिंग जली—उसके अन्तर में। थी तो वह भी राजपूतनी। चोट खाकर बैठना उसका स्वभाव नहीं था। प्रतिहिंसा में जल मरना वह नहीं जानती थी।...बदला लेना ही उसकी आदत थी ।

जब से उसने यह खबर सुनी तब से वह नागिन-सी बनी बैठी थी। उसका रूप देखकर प्राचीन काल की राजाओं की रूठी रानियाँ याद आ जाती थीं जो किसी बात से नाराज़ होकर बाल बिखराकर, गन्दे कपड़े पहनकर, मुँह चढ़ाकर, बत्ती गुल कर बैठ जाया करती थीं। जो न किसी से बोलती थीं और न किसी से कुछ सुनती थीं।...

ठीक यही रूप धारण कर लिया था युवराणी ने। फर्क इतना था कि रूठी रानियाँ बत्ती गुल कर सो जाया करती थीं और वह चोट खाई साँपिन की तरह फन उठाये बैठी थी कि कब युवराज रावले में पधारें और कब वह उन पर चोट करे !

कई बार उसने युवराज को रावले में आने के लिए दासियों से कहलवाया भी था पर वह नहीं पधारा था और अन्त में युवराज ने साफ शब्दों में कहलवा दिया था कि युवराणी सा से जाकर कह दो

वह हमारी बातों में दखल न दिया करें, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

तब युवराणी का आत्म-सम्मान चीख उठा। वह नारी की स्वाभाविक ईर्ष्या से जल उठी।...हृदय की जलन में वह इतनी जली कि उसकी व्यथा भाप बन आँखों की राह सावन-भादों की तरह बरस पड़ी। यह अन्याय है, जुल्म है, युवराज का मेरे ऊपर सरासर अन्याय है।—उसने सिसकते-सिसकते विचारा—'मैं यह सहन नहीं कर सकती, ...यह सहना मेरे बूते के बाहर की बात है।'

वह काफी देर तक मानसिक संघर्ष में उलझी रही और जब वह किसी प्रकार से भी अपने हृदय को धैर्य नहीं दे सकी तो वह हवा की तरह मानसिंह के कमरे में जा पहुँची।

मानसिंह उसे देखकर चकित रह गया।

युवराणी ने मर्यादा के अनुसार सबसे पहले मानसिंह के पाँव छूए।

मानसिंह ने उसकी ओर बिना देखे ही कहा—"हमारी आज्ञा बिना आप यहाँ क्यों पधारीं ?"

"यह पूछने के लिए कि गढ़ में जो अफवाह फैली है, क्या वह सत्य है ?"

"इससे आपको क्या मतलब ? सच हो या झूठ, हमारा अपना मामला है, हम उसे खुद समझेंगे,...आप कौन हैं यह सब पूछने वाली ?"—मानसिंह का स्वर क्रमशः तेज होता गया।

"मैं आपकी घरवाली हूँ, लुगाई हूँ, इसलिए मैं आपसे पूछती हूँ।"

"राणी सा !"—मानसिंह गर्जा—"आप अपना काम कीजिए, बिना कहे-सुने निर्लज्जों की भाँति हमारे कमरे में आने का आपको क्या हक है ?...जाइये यहाँ से...मैं कहता हूँ निकलिये यहाँ से ?" मानसिंह ने जोर का झटका देकर युवराणी को बाहर जाने का संकेत किया।

युवराणी क्रोध और व्यथा से झकझोरित हुई तेज कदम बढ़ाती हुई

लौट चली। उसकी आँखों में आँसू और गुस्सा दोनों थे।

एकाएक वह किसी से टकराई।

झटाके से उसने एक चाँटा सामने से आने वाले के मार दिया—"कमीने कहीं के, देखकर चलता नहीं, आँखें फूट गई हैं।" मैं तुझे जिन्दा जलवा दूँगी।"

सामने सुजानसिंह था।

हकलाता हुआ बोला—"खम्मा युवराणी सा, मुझसे भूल हो गई, मुझे माफ कर दीजो।"

"कौन सुजानसिंह ?"—युवराणी ने सावधान होकर पूछा।

"हाँ"—उसने हाथ जकड़कर जोड़ दिये।

"खैर, माफ करती हूँ।"—युवराणी सा चली गई।

सुजान ने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया कि जान बची और लाखों पाये। 'उसकी कृपा न होती तो आज वह जिन्दा ही जलवा दिया जाता।' इस ख्याल से सुजान काँप उठा।

अपनी कोठड़ी में आकर वह अपने चिथड़े से बिस्तरे पर पड़ गया। उसका अंग-अंग ढीला हो गया था। वह कुछ देर तक सामने लगा राजसिंह जी की तस्वीर को अपलक देखता रहा। देखते-देखते उसकी आँखें भर आईं। वह सिसकियाँ ले उठा।

बीती बातें उसके हृदय को कुरेदने लगीं।

उसने मन ही मन सोचा कि ठाकुर और राजा लोग सचमुच में पत्थर के बने होते हैं। गरीब से गरीब पर इनका दिल नहीं पसीजता, जैसा ठान लेंगे वैसा कर देंगे, चाहे उससे गरीब-गुरबा को कितना ही दुख क्यों न हो!

वह भी कितना सुखी था!

उसने अपनी आँखें बन्द करलीं मानो वह अपने अतीत की घटनाओं के ख्याल से दूर भाग जाना चाहता है। पर सारा चित्र एक-एक कर बरबस नाच उठा उसके सामने —

गाँव मोलासर सौ घरों की बस्ती थी ।

सौ घरों में सभी वर्ग के लोग रहते थे, सभी प्रकार का धन्धा करने वाले—क्या बढ़ई, क्या नाई, क्या मोची और क्या ब्राह्मण। एक सूदखोर बनिया था जिसकी पक्की दोस्ती गाँव के ठाकुर इन्द्रसिंह से थी।

गाँव में इन दोनों की मिली-भगत प्रसिद्ध थी । गाँव वाले आपस में उनकी गैरहाजिरी में कहा करते थे कि चोर-चोर मौसेरे भाई । और मुहम्मद ढोली, जो अपने आपको शायर कहता था, वह ऊपरी पंक्ति को इस तरह कहा करता था—

चोर चोर मौसेरे भाई, एक छुरी दूजा कसाई ।

गाँव वाले मुहम्मद को समझाया करते थे कि कभी तू ठाकुर के हाथों से बे-मौत मारा जायेगा, पर सुजानसिंह चौधरी कहता था कि "मुहम्मद भाई ! किसी को क्या खबर होगी कि यह हरुफ तेरे बनाये हुए हैं । गाओ, हर सुबह उठकर रामायण के पाठ की तरह इसे राग से गाया करो ।"

इस पर बूढ़ा हनुमानदास सुजान को समझाता था—"सुजान ! तेरी अक्ल तो चरने चली गई है; कहीं ठाकुर सा को मालूम हो गया तो हड्डी-पसली एक करके रख देंगे ।"

सुजान क्या, सारे गाँव पर ठाकुर का जोरदार आतंक था । सब लोग यह भलीभाँति जानते थे कि जब ठाकुर बिगड़ता है तो जमीन-आसमान एक कर देता है ।

लाग-बाग के समय उसके कारिन्दे कितनी निर्दयता से किसानों को पीटते हैं, यह भगवान ही बता सकता है ।

सुजान के पिता ने जीवन-भर ठाकुर की सेवा की थी । अपनी जवानी की सारी शक्ति उसके सूखे खेतों को लहलहाने में लगा दी थी । गाँव वालों का कहना था कि सुजान का डैरा (बाप) क्या था, पूरा राक्षस था, सारे खेत को अकेला पानी देता था । उसके बोये बीज जरूर उगते थे, क्योंकि उसकी आत्मा शुद्ध थी ।

फिर भी ठाकुर को उससे सन्तोष नहीं था। क्योंकि ठाकुर चाहता था कि सुजान का बाप केवल उसके खेतों में काम करे, अपने नहीं; पर सुजान का पिता 'बालू' यह मानने को तैयार नहीं था। उसने ठाकुर के पाँवों में पड़कर बिनती कर दी थी—"अन्नदाता! यह कैसे हो सकता है, मेरे भी बाल-बच्चे हैं, घर-बार है, लुगाई-बेटा है, ···आपका कर्ज देना है, यदि मैं अपना खेत नहीं जोतूँगा तो मेरा गुजारा कैसे चलेगा?"

ठाकुर कुछ बोले नहीं। समय बीतता गया।

जब सुजान ने छब्बीसवें वर्ष में अपना पाँव रखा तब बालू का देहान्त हो गया।

ठाकुर ने उसको हुक्म दिया कि वह अपने बाप का काम-धाम संभाले, क्योंकि यह पुश्तैनी रीत है। सुजान बेगार में काम करना नहीं चाहता था पर गाँववालों ने उसे समझा दिया कि यदि वह इन्कार करेगा तो ठाकुर उसे जी-जान से गवाँ देगा।

ठाकुर के कानों में यह भनक पड़ी। वह बौखला उठा—"उस साले चोट्टे की यह हिम्मत, लाओ मेरे सामने।"

सुजान ठाकुर के सामने लाया गया। सुजान के होश-हवास हवा थे। वह काँप रहा था पर उसके हाथ एक स्वामी-भक्त गुलाम की तरह जुड़े थे।

"तू मेरे खेत में बेगार नहीं करेगा?" ठाकुर ने कड़ककर पूछा।

"·······" सुजान चुप रहा।

"तू बोलता क्यों नहीं, हरामजादे, तेरी जबान को क्या काठ मार गया है?"

"हाँ!"

"क्या?"—ठाकुर की आँखें फटी की फटी रह गईं। एक अदने से जटबग्गू (मूर्ख) से 'हाँ' सुनकर उनकी रजपूताई जाग उठी। आज तक किसी ने उसके सामने जबान तक नहीं खोली थी। उसकी आज्ञा को एक देवता की वाणी समझकर यहाँ के आदमी मानते थे।—'आज यह

हरामजादा मुझ से जबान लड़ाने को तैयार होता है।'—ठाकुर ने सोचा।

ठाकुर ने मूँछों पर ताव दिया। वह इस तरह अकड़कर बैठ गया जैसे कोई सम्राट किसी अन्य छोटे राजा द्वारा अवज्ञा पाकर बैठता है। उसने अपने हाथ को जोर से झटका दिया—"क्या बेगार नहीं करोगे ?"

"हररोज की बेगार नहीं करूँगा, जैसे और लोग खेत की कटाई, या हल जुताई के समय चंद दिनों के लिये बेगार पर आते हैं, उसी तरह मैं भी आऊँगा।"—सुजान ने यह कह तो दिया पर उसका स्वर काँप रहा था। शरीर पसीना-पसीना हो गया था। आस-पास के कारिन्दे समझ नहीं पा रहे थे कि इस सुजान को क्या हो गया है।

ठाकुर सा उठे। उसके पास आये और एक जोर का थप्पड़ मारते हुए गुर्राये—"कमीने कहीं के, जबान लड़ाता है; तू क्या, तेरे बाप ने भी जिन्दगी भर काम किया था, तू हमारे रीति-रिवाजों को मिटा देगा न ? साले का कलेजा ठोकर से पीट-पीट कर निकलवा दूँगा।"

सुजान की मुट्ठियाँ बन्ध गई। उसका विद्रोह चीत्कार उठा। उसने निश्चय किया कि अब उसे हाथ नहीं जोड़ने चाहियें, इस ठाकुर पर टूट पड़ना चाहिये। ठाकुर उसकी बंधी हुई मुट्ठियाँ, बदलते हुए चेहरे के भावों को ताड़ गया।

भय के मारे ठाकुर चीखा—"गुमानसिंह, हरिसिंह ! पकड़कर सौ कोड़े लगाकर इसका होश ठिकाने पर ला दो। यह बेगार पर नहीं आयेगा ! ······देखता हूँ, कैसे नहीं आता है ?"

सुजान ने गर्दन नीची नहीं की।

ऐसा महसूस होता था कि यह युगों से पीड़ित-शोषित किसान जुल्म की इंतिहा पर विद्रोही हो उठा है। उसके बदन में वे चिनगारियाँ जलने लगी हैं, जिनमें प्रतिशोध की दहक है।

पर सुजान की स्त्री ठाकुर के पाँवों पर पड़कर दुहाई-दुहाई कहने लगी। वह गिड़गिड़ा रही था—"खम्मा कीजिये भाई-बाप ! मैं आपके

पाँवों पड़ती हूँ, मैं आपसे दया की भीख माँगती हूँ,······इनकी अक्ल सठिया गई है, इनको किसी ने भड़का दिया है, बहका दिया है, आप इन्हें माफ कर दीजिये, माई-बाप, सरकार, अन्नदाता !"

अपने पाँवों को छुड़वाकर ठाकुर ने चेतावनी दी—"जा छिनाल कहीं की, अपने खसम को समझा, ताकि वह फिर कभी ऐसी गुस्ताखी न करे, ले जाओ मेरी आँखों के सामने से इस हरामजादे को।"

कारिन्दे सुजान को ले गये।

सुजान की घरवाली 'सत्तूड़ी' अपने घर आकर रोये ही जा रही थी। उसका चार साल का बच्चा बिसू बार-बार उसे पूछ रहा था कि माँ तू क्यों रोती है, तुझे किसने पीटा है ?

'इस राम के मारे ठाकुर ने, मैं कहती हूँ कि भगवान इसे अपनी करनी का दंड दे, इसकी देह में कीड़े-मकोड़े पड़ें, अगले जन्म में यह भी हमारी तरह गरीब घर में जन्म ले, और इसे भी कोई इसी बेदर्दी से पीटे···।'

रोते-रोते जब वह थक गई तो पाँव पसारकर सो गई। पड़ौसी औरतों ने जब उसे खाने के लिये कहा तो वह बिगड़कर बोली—"इस ठाकुर के बच्चे को खाऊँ क्या ? राम का मारा सबको खा तो गया।"

जब सुजान घर लौटा तब उसकी सारी देह सूज गई थी। कोड़ों के लाल-नीले निशान देखकर सत्तूड़ी सिसक-सिसककर रोने लगी। उसकी अन्तरात्मा बिलख उठी—"आदमी नहीं जानवर है, कसाई की तरह पिटवा दिया अपने जँवाइयों से"—और वह अपना मुलायम हाथ उसकी पीठ पर फेरती जा रही थी।

"तू चिंता न कर बिसू की माँ, मैं इस बात के लिये गाँव वालों को इकट्ठा करूँगा और न्याय की माँग करूँगा।"

"कौन ऐसा माई का लाल इस गाँव में है जो ठाकुर के खिलाफ एक हरुफ भी बोले ; सागर में रहकर मगरमच्छ से बैर कौन करेगा ?"

"देखूँ तो सही इन पंचों को भी।"—सुजान ने सब पंचों का

दरवाजा खटखटाया पर सभी ने उल्टा उसे ही भला-बुरा कहा—"तू पुरखों की रीत को मिटाने वाला कौन होता है ? तेरा बाप बेगार करता था या नहीं ?······बड़ा आया तीसमारखाँ, किसी को कुछ समझता ही नहीं, ठाकुर से मोर्चा लेने चला है, जरा अपनी हस्ती को तो देखा होता !"

चारों ओर से निराश होकर सुजान लौट रहा था। उसे मुहम्मद मिला। उसने व्यंग से कहा—"क्यों, निकाल आये अपने मन की, अरे भाई ! राज इनका, पाट इनका, कानून इनका, अदालत इनकी; उनसे लड़ने चला है, नासमझ कहीं का !" —और उसने गाया—

चोर चोर मौसेरे भाई,
एक छुरी, दूजा कसाई।

साहूकार ने जब यह सुना कि सुजान ने ठाकुर सा से जबान लड़ा ली है तब बनिया बड़ा आश्चर्य में पड़ा। अक्ल दौड़ाकर वह इस निर्णय पर पहुँचा कि यह छोकरा जरूर कोई न कोई गुल खिलायेगा; कैसी हिम्मत की है पट्ठे ने, आज तक किसी ने उनकी ओर ऊँची निगाह करके देखा तक नहीं है, और यह जबान लड़ा बैठा !···"हरे राम, राम ! राम !!"

और पहुँचा सीधा ठाकुर-द्वार।

जै माता जी करके चापलूसी के स्वर में सुजान को फटकारने लगा—"कैसा हरामजादा है, ठाकुर सा ! आपके सामने गर्दन ऊँची करके कुत्ते की तरह भौंके, राम ! राम !! कैसा जमाना आ गया है—नौकर मालिक के मुँह लगता है, मेरी समझ में तो कल तक यह नौकर लोग हमारे पीछे लट्ठ लेकर पड़ जायेंगे ?"

"मरते मन में ही ले जायेंगे, साहूकार जी ! कल ही साले का खेत-घर कुड़क करवाये लेता हूँ; जब बच्चे रास्ते में पड़ेंगे तो सारी अकड़ हवा हो जायेगी, अभी तक ठाकुर साहब का गुस्सा नहीं देखा है कम्बख्तों ने !"

"हाँ-हाँ, जब तक आप इनकी अच्छी तरह से मरम्मत नहीं करेंगे तब तक इनकी अक्ल ठिकाने नहीं आयेगी। कोई ऐसा उपाय कीजिये कि यह पाजी यहाँ रहे ही नहीं, आप नहीं जानते कि कल इसकी देखा-देखी सब आदमी जबान लड़ाने लग जायेंगे।"

"ऐसा ही उपाय करूँगा साहूकार जी, देखते जाइये!"—ठाकुर सा ने मूँछों पर फिर ताव दिया।

ठीक पन्द्रहवें दिन शहर की पुलिस के दो आदमियों ने आकर सुजान को अपने साथ चलने के लिये कहा। सुजान तुरन्त समझ गया कि यह सब ठाकुर की कारस्तानी है। जब पुलिस ठाकुर के डेरे पर पहुँची तो ठाकुर ने कड़ककर कहा—"जिन्दगी भर वहाँ पड़े-पड़े सड़ना! देख लिया मुझसे जबान लड़ाने का नतीजा! बेगार नहीं करेगा......! ले जाओ इस नमकहराम को।"

पुलिस सुजान को शहर ले आई, जहाँ गढ़ के और गुलामों के साथ उसे भी गुलाम बना दिया गया।

गुलामों पर गढ़ में जो पाशविक अत्याचार होते थे, उन्हें उसने देखा। उसने देखा कि गढ़ के स्वामी गुलामों की मामूली-मामूली भूलों पर इतना कड़ा दंड देते हैं कि दिल दहल जाता है। तब उसे याद आया एक बार पुरखे नामक दास ने भागने का जतन किया तो वह भागता हुआ पकड़ा गया था। उसे गढ़ के बीचोबीच खड़ा किया गया था। उसके हाथ-पाँव चारों ओर से बाँध दिये गये थे और बाद में गोल-मटोल लोहे की कड़ियाँ तपाकर उसके शरीर पर डाँभ चिपका दिये गये थे। तब उसने दर्द से चीखकर करुण विलाप किया था। कितना हृदय-विदारक चीत्कार किया था उसने!......और गौ-ब्राह्मण और अबला के रक्षक ये राजपूत खड़े-खड़े हँस रहे थे जैसे वह कोई तमाशा था। उन्हें इस अमानवीय कृत्य में बड़ा आनन्द आ रहा था। गढ़ के मुख्य कर्त्ता-धर्त्ता सूरजमालसिंह ने हँसते हुए हुक्म दिया था—"एक इसके गाल पर और लगा दो, अरे चीखता क्यों है पुरखे के बच्चे? देखो कैसा

नाच रहा है जैसे सिनेमा का एक्टर······वाह, वाह ! जरा और घूम के ! लगाओ न जल्दी से डाँभ ।"

पुरखा माई-बाप, सरकार-अन्नदाता कह रहा था पर उसकी करुणा भरी चीखें गढ़ की दीवारों से टकराकर शून्य में विलीन होती जा रही थीं ।

जब वह बेहोश हो गया तो सूरजमालसिंह ने वहाँ के उपस्थित गुलामों से कहा—"देखा, भागने का नतीजा !"

उस दिन सुजान ने खाना नहीं खाया । उसे इतना गुस्सा आ रहा था कि वह इन दैत्यों की बोटी-बोटी काटकर फेंक दे, पर वह भी लाचार था, दीन था, परवश था ।

हाँ, इस निर्दयतापूर्ण दी गई सजा से धीरे-धीरे सुजान में, उसके उठते हुए अन्तर के जवान-विद्रोह में ठंडक आने लगी । वह मन मार कर बैठ गया । वह चारों ओर से निराश हो गया कि अब उसका छुटकारा जिन्दगी भर नहीं हो सकता और वह गढ़ की दीवारों को फाँदकर या पहरेदारों को, जिनकी आँखें कबूतरबाजों से भी तेज हैं, चकमा देकर कभी भी गढ़ के बाहर नहीं जा सकेगा ।

तब उसके सामने उसकी घरवाली का मनोहर चेहरा नाच उठता, उसकी मीठी-मीठी मुस्कान उसके दिलो-दिमाग में सुगन्ध-सी बस जाती, बिसू का फुदक-फुदक मचलना, उसका अलहड़पन, उसकी किलकारियाँ, उसका अपना लहलहाता हरा-भरा खेत, झूमती हुई बालें, खेत की महकती हुई मिट्टी, सब की सब उसके दिमाग में विचारों-सी छा जाती थीं ।······और वह एकान्त में दीये के प्रकाश में रो-रोकर अपने मन को हल्का किया करता था ।

उसकी सिसकियाँ सुनकर फागा उसे सान्त्वना देने अक्सर आया करती थी ।

फागा दहेज में आई दासी थी । स्वस्थ और सुन्दर थी, साथ ही हठी और बदमाश । गढ़ के बड़े-बड़े ठेकदार उससे घबराते थे क्योंकि जब वह

आई थी तब सभी ने उसके सौंदर्य को छलना चाहा था पर उसके विद्रोह के सामने सब झुक गये। उसने मानसिंह जी को भी साफ-साफ शब्दों में कह दिया था—"अब वह जमाना लद रहा है अन्नदाता कि आपने गोली के शरीर को शरीर नहीं समझा, लेकिन यदि आपने मेरे ऊपर कुदृष्टि रखी तो नतीजा अच्छा नहीं होगा, मैं जान पर खेल जाऊँगी।...मुझे मरने से चाव (चाह) है।...समझे!"

मानसिंह यह सुनकर भौंचक्के से उसे देखते रहे। यदि वे खुद राजा होते तो उसे जिन्दा जमीन में गड़वा देते पर अपने पिताजी के कारण वे खून का घूँट पीकर रह गये।

पर सुजान फागा के सामने अपना दुखड़ा बच्चे की तरह सुनाया करता था। फागा उसके बालों में अपनी अंगुलियाँ उलझाती हुई उससे धीरे से कहा करती थी—"पाप की जड़ हमेशा हरी नहीं रहती, उसे कभी न कभी जलना ही है; इन राजाओं के अभी दिन हैं, ये अपनी मनमानी करेंगे ही!" और फागा के स्वर में गर्मी आ जाती—"पर तू देखेगा सुजान कि एक दिन यह कुत्ते की मौत मरेंगे। कोई इनका न नाम लेवा रहेगा, न इन्हें पानी देवा रहेगा।"

फागा की इस बात पर सुजान की आशा बलवती हो जाती थी—"फागा का कहना यदि सच्चा है तो एक न एक दिन वह भी इन दीवारों से आज़ाद होकर अपनी बीवी के पास चला जायेगा, वह उसे प्यार से चूम सकेगा, अपने बच्चे को कन्धे पर उठाकर नाच सकेगा। उस दिन वह उस राजा से कम खुश नहीं होगा जिसे कोई नया राज्य मिला हो। उसके अपने वही खेत-खलिहान होंगे, प्यार और मस्ती से भरे गीत होंगे, वही मिट्टी होगी जिस मिट्टी में वह बचपन में खेला करता था। और वही ठाकुर......हाँ, वह मौका पाकर ठाकुर जोरावरसिंह को अपनी करनी का फल देगा ही।"—तब सुजान की मुट्ठियाँ बन्द हो जाती थीं। आँखों का रंग ही बदल जाता था। विद्रोह की भावना अंगारे-सी दहक उठती थी।

कभी-कभी उसे बड़ा भयानक सपना भी आता था। तब वह फागा को सवेरे ही सवेरे कहता था कि आज उसे ऐसा सपना आया कि वह चारों तरफ से जंजीरों से जकड़ा है और सूरजमालसिंह उसे देखकर हँस रहा है।—तब यह सुनकर फागा उसके गाल पर माँ की तरह हल्का चपत लगाकर कहती—"तू अभी तक एकदम बच्चा है। अरे पगले ! कभी सपने भी सच्चे होते हैं ? ये जंजाल होते हैं, आते-जाते रहते हैं, समझा !"

और सुजान नासमझ की तरह सिर हिला देता।

लेकिन उसने तमाम गुलामों के सामने यह एलान कर दिया था कि यदि कोई मर्दानी लुगाई है तो फागा ही।

मुझे क्षत्राणी मत कहो !

रात हो गई थी।

युवराणी सा ने अपनी बोझिल पलकें उठाकर एक बार अपने कमरे में देखा। उसे कमरे का वातावरण घुटा-सा जान पड़ा। कुछ भारी-भारी-सा लगा। दासी धूड़ी ने आकर रात के खाने का थाल उसके सामने रखा। युवराणी ने फटी हुई आँखों से धूड़ी को देखा और गुस्से में खाने के थाल को जोर की ठोकर मारती हुई कड़ककर बोली—"ले जा यहाँ से खाना-वाना, किससे पूछकर लाई है यह, रंडारू, फिर कभी बिना हुक्म के यह काम कर लिया तो मारते-मारते दम निकाल दूँगी।"

धूड़ी ने हाथ जोड़कर कहा—"खम्मा युवराणी सा, खम्मा युवराणी सा !" उसने फर्श पर बिखरे खाने को इकट्ठा किया और भयभीत-सी कमरे के बाहर हो गई।

युवराणी खुद क्षत्राणी थी। उसका आत्म-सम्मान भी ठीक राजपूतों की तरह सजग था। मानसिंह द्वारा जो एक कुतिया-सा व्यवहार उसका हुआ था, उससे उसे अत्यधिक संताप हुआ था। उसका अपना वश चलता तो वह आज ही अपने मायके चली जाती पर हालात उसके बिलकुल प्रतिकूल थे। फिर भी उसके मस्तिष्क में मानसिंह के ये शब्द बार-बार गूँज रहे थे—'राणी सा ! आप अपना काम कीजिये, बिना कहे-सुने निर्लज्जों की भाँति हमारे कमरे में चले आने का आपको क्या हक है ? जाइये यहाँ से,···मैं कहता हूँ निकलिये यहाँ से !'—अपमान की धधकती आग से तिलमिला उठी युवराणी। फफकती हुई औंधे मुँह बिस्तरे पर गिर पड़ी।

उसे फिर याद आया कि युवराज ने उसे कितने जोर से डाँटा था जब उसने यह पूछा कि क्या गायत्री बाई और आपकी···। मानसिंह ने तेज स्वर में दुत्कार दिया—"इससे आपको क्या मतलब ? सच हो या झूठ, हमारा अपना मामला है, हम उसे खुद समझेंगे।"

युवराणी की मुद्रा भयंकर हो गई। उसने बड़बड़ाया—'हमारा अपना मामला है, हम उसे खुद समझेंगे !···और मैं ?···आप अपने कलेजे की आग को गोलियों और रंडियों से ठंडी कर लेंगे और मैं—'

एकाएक युवराणी को सुजान का बलिष्ठ, सुडौल और दयनीय चेहरा याद आया।

"कितना तगड़ा मोट्यार है !···" युवराणी के विचारों ने रुख बदला—"काले केश, चौड़ा ललाट, भरा-पूरा चेहरा, चमकीले दाँत, हृष्ट-पुष्ट शरीर !—" युवराणी की पुतलियों में परिवर्तन दीख पड़ा जैसे उसका क्रोध किसी भयंकर परिणाम से टकराने वाला है।—"मैं भी···।"

"नहीं ?"—उसकी आत्मा ने रोका—"तू क्षत्राणी है, पर-पुरुष का ध्यान भी तेरे लिये पाप है।"

"हमारा अपना मामला है, हम उसे खुद समझेंगे।'— उसके

मस्तिष्क में मानसिंह की आवाज फिर गूँज उठी।

'समझ लीजिये।'—चीख उठी युवराणी—'युवराज भी क्षत्री हैं, फिर······सुजान।'—युवराणी की आँखों में प्रतिहिंसा जाग उठी।

'उपेक्षा ! उपेक्षा !! उपेक्षा !!! मुझ में क्या कोर-कसर है ?'—युवराणी ने अपने आपसे प्रश्न करके दर्पण में अपने आपको उतारा। उसे जान पड़ा कि वह इन्द्र की परी से कम फूटरी नहीं है।······फिर युवराज उसकी इतनी भारी उपेक्षा क्यों करते हैं ? विवाह के बाद सिर्फ चार बार रावले में पधारे हैं,···ऐसा क्यों ? क्योंकि उनका राज्य है, क्योंकि वह मेरे मालिक हैं पर अब ·····? हाँ, सुजान ! —उसका बाँका-तगड़ा शरीर, उसकी मोटी-मोटी कलाइयाँ, उसका चौड़ा सीना।

उसने धीरे से पुकारा "धूड़ी !"

धूड़ी ने आकर सादर सिर झुका दिया।

"सुजान को बुलाला।"

"जो हुक्म !"

धूड़ी चली गई।

राणी ने लम्बी उसाँस भरी।

धूड़ी को ऐसा महसूस हुआ जैसे उसका पेट फूल रहा है। यदि वह कुछ देर तक इन सभी बातों को और छिपायेगी तो उसका पेट जरूर फट जायेगा।

वह फागा के पास पहुँची।

और फागा !

जब उसने अपनी भायली को यह कहते सुना—"सुन री फागा, युवराज जी दीवान जी की दोहिती को लेकर सोनपुर भाग गये थे। इधर महाराज को मालूम पड़ गया, दोनों रंगे हाथों पकड़े गये···जैसी करनी वैसी भरती।"

"·········"—फागा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। वह केवल धूड़ी को देखती रही और धूड़ी फागा के बिलकुल निकट आकर धीमे

स्वर में बोली—"आज युवराणी सा ने सुजानसिंह को रात में बुलाया है। युवराणी सा युवराज जी की नफरत को अब सह नहीं सकता क्योंकि युवराज जी तो···! अरी फागा! ज़रा तू भी सोच न, आखिर युवराणी सा भी जवान हैं, उनका भी जोबन लैंरा दे रहा है।"—कह कर धूड़ी चुप होकर फागा के नये प्रश्न की प्रतीक्षा करने लगी। लेकिन फागा के चेहरे पर क्रोध और विद्रोह के संघर्ष की रेखायें नाच रही थीं। तब धूड़ी ने एक भद्दी बात कही—"लुगाई को धन-जेवर से अधिक प्यारा है तो···।—उसने वाक्य को आँख के इशारे से समाप्त किया। फागा चुप थी—निष्प्राण-सी।

"अब मैं चली फागा पर तू यह बात किसी से मत कहना···भेदभरी है न।" धूड़ी चली गई।

फागा का अन्तर हाहाकार कर उठा। नयनों में रोष की चिनगारियाँ जल उठीं। तपे हुए स्वर में बोली—"कितना अच्छा हो यदि सुजान युवराणी सा की इज़्ज़त लूट ले! अभिमान और शान के पुतले युवराज की तो आँखें खुल ही जायेंगी। वह भी जान जायेगा कि यहाँ एक-एक के बाप बैठे हैं।···सब की इज्जत-आबरू एक-सी है।"—और फागा फफक-फफक रो पड़ी, उसकी आँखों से गंगा-यमुना बह उठी हो, ऐसा उस के आँसुओं से मालूम पड़ रहा था। उसे याद आया—अपना पति जिसको इसी युवराज ने एक दीवार समझकर गोली से उड़ा दिया था। क्यों उड़ा दिया था? इसलिये कि वह फागा की अप्सरा-सी सुन्दरता का निर्विरोध आनन्द उठाना चाहता था। मजबूर गुलाम फागा अपने पति के लिये सिवाय आँसू बहाने के और कर ही क्या सकती थी। जब जिन्दगी बिक गई फिर अरमानों का मोल ही क्या?

उसे पीड़ा देने लगी वह रात जब वह पति की मृत्यु पर अपनी कोठरी में बैठी-बैठी आँसू बहा रही थी। उसका आँचल भीग गया था। धर्मावतार नरेशों के अत्याचारों को वह कोसती-कोसती थक चुकी थी। पति-विहीन उसे अपना घर भूत का डेरा-सा जान पड़ रहा था। तभी

मानसिंह की ओर से बुलावा आया। उसने उत्तर में कहलवाया—"अभी उसका जी अच्छा नहीं है इसलिये वह युवराज जी की सेवा में हाज़िर नहीं हो सकती।"

दूसरा बुलावा आया। मानसिंह ने कठोर आज्ञा दी थी कि यदि वह राँड न आये तो उसका चूँरवा[1] पकड़कर ले आओ।"

तब वह सीधी-सीधी चल पड़ी थी।

मानसिंह शराब के नशे में धत् था। उसने फागा को राक्षस की तरह अपने बाजुओं में कसा और कुत्ते की तरह काटा।

पर उस दिन फागा ने मानसिंह के गाल पर वह चाँटा मारा कि उसका सारा नशा उतर गया और वह यह कहकर चल पड़ी कि आप आदमी नहीं जानवर हैं, जो आदमी के शरीर को गिद्ध की तरह नोच लेते हैं। "खबरदार! यदि मेरे शरीर को भ्रष्ट करने की कोशिश की तो?"—और वह सीधी अपनी कोठड़ी में आ गई।

उस समय उस लाचार अबला ने सोचा—'दासियाँ वेश्याओं से भी गई-बीती होती हैं। वेश्याएँ तन बेचकर शोहरत और दौलत तो हासिल करती हैं और हम लातें और दुत्कारें सहती हैं।···इस नारकीय जीवन से कोठे पर बैठना कितना ही अच्छा है!'

मन का आवेग जब मन से निकल गया तब फागा ने वस्तुस्थिति को पहचाना। वह भाग-भागकर मानसिंह और गायत्री की बात को नमक-मिर्च लगा-लगाकर सबसे कहने लगी। इससे उसके कलेजे को ठंडक पहुँच रही थी।

रात अपनी गति से बढ़ती जा रही थी।

सुजानसिंह बैलों और गायों को घास देने के बाद स्नान कर रहा था। फागा उसके पास आई। उसको एकटक देखकर उच्छृंखलता से पूछ बैठी—"हमने सुना है सुजान कि आज तुम्हारे भाग्य के फाटक खुलने वाले हैं, क्या यह ठीक है?"

---

१. केश।

"चुप !"—अपने होंठ पर अंगुली रखते हुए सुजान ने फागा को सावधान किया—"क्यों मेरी जान के पीछे लगी है। युवराणी सा या युवराज जी को पता पड़ गया तो मैं शेर के पिंजरे में डलवा दिया जाऊँगा।...हम इनके दास हैं और ये हमारे राजा हैं। इनके हुक्म पर चलना ही हमारा धर्म है।...शायद तू यह नहीं जानती है कि चित भी इनकी होती है और पट भी। इस वास्ते इस प्रकार की बातें अपने मुँह से न निकालाकर, नहीं तो कभी तू भी गधे की तरह पीटी जायेगी।"

"राँड से बड़ी कोई गाली नहीं है सुजान !"—फागा ने परिणाम की पराकाष्ठा का भान कराया—"जान ही लेंगे, तो ले लें; इस नरक से पिंड तो छूट जायेगा। इस जीवन में अब नौ चूल्हे राख रखी है।"

"तू हमेशा ही बेसिर-पैर की बातें करती रहती है। तेरे खसम की मौत के बाद तेरी खोपड़ी कुछ ढीली पड़ गई है।"—सुजान के स्वर में हल्की डाँट के साथ-साथ आत्मीयता थी—"पर राम के वास्ते मुझ पर कृपा रख तू। तेरे मन में जो जँचे वह कर।"—शरीर पोंछ-कर सुजान धोती पहनने लगा—"क्या पता, युवराणी सा ने मुझे क्यों बुलाया है ?"

जाते-जाते फागा ने एक चुटकी और भरी—"सुजान ! सज-सँवरकर जाना। अपने आप पता लग जायेगा कि तुम्हें क्यों बुलाया है ? समझे ?"

सुजान बोले इसके पहले ही फागा गीत गाती वहाँ से चली गई। गीत के बोल थे—

"सागर पाणी लेणे जावूँ सा, निगर लग जाय,
म्हाँरी सांसणी साड़ी रो ढोला रंग उड़ जाय।"

× × ×

युवराणी सा गोमती शराब के दो जाम पीकर ढोलनियों से चौमासा सुन रही थी।

ढोलनियों के सुमधुर कण्ठ-स्वरों से निकला यह राजस्थान का लोक-गीत एक विरहिणी की वेदना और प्रकृति के सुन्दर समन्वय का प्रतीक था।

ढोलनियाँ झूम-झूमकर गा रही थीं—

"साजन घर आवो जी, म्हलाँ में डरपे सुन्दर एकली।
राजन घर आवो जी, म्हलाँ में डरपे गोरी एकली।
धौला बादल धड़धड़ासरे, मेंह अन्धेरी रात
....

गीत समाप्त हुआ।

सबों ने बिदाई ली।

तब सुजान ने चोर की तरह कमरे में प्रवेश किया। न जाने आज उसे क्यों डर लग रहा था? युवराणी ने डाँटकर आज्ञा दी—"हमारे और तुम्हारे बीच की बात बाहर चली गई तो हम जिन्दा दीवार में चुनवा देंगे।"

"नहीं युवराणी सा! यह जबान आपकी आज्ञा बिना हिलेगी नहीं।"—स्वर में विनती थी।

"तो फिर मेरे पास आओ।"

सुजान काँपता हुआ कर आबद्ध किये गोमती के सन्निकट चला गया।

"हाथ जोड़े ही रखेगा या...?"

"तो मैं क्या करूँ?"—डरते हुए पूछा उसने।

"तू......बत्ती बुझा दे।"

"क्यों?"

"बहस मत कर, जो कहती हूँ वह करता जा।"

".........।" सुजान ने युवराणी के अतृप्त रौद्र रूप को देखा।

"सुना नहीं?"

"युवराणी सा!"—सुजान की आँखें युवराणी पर जम गईं।

उसकी स्पन्दनहीन आँखें भय से पथराती जान पड़ी।

"सुजान, भला चाहते हो तो मेरे हुक्म को मान लो वर्ना······?"

युवराणी की ताड़ना को सुजान भली-भाँति समझ गया। वह जान गया था कि आज उसे जरूर जिन्दा जलना पड़ेगा। वह अपना सिर पकड़कर वहीं बैठ गया।

युवराणी उसके नजदीक आई।

उसने सुजान का हाथ पकड़ा। सुजान के शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। वह हकलाता हुआ बोला—"यह क्या कर रही हैं युवराणी सा ?"

"क्यों ?"

"आप तो······?"

"क्षत्राणी हूँ, सुजान !"—वह चिहुँक पड़ी—"मैं क्षत्राणी नहीं हूँ, मुझे क्षत्राणी मत कहो,······मत कहो। मुझ से तो हर लुगाई चोखी है, मजे में है, मेरे तो भाग्य ही फूट गये कि मैंने इस राजघराने में जन्म लिया, सच कहती हूँ सुजान, आज मुझे खानदानी इज्जत का कोप नहीं होता तो इस गढ़ की दीवारों को फाँदकर भाग जाती।"—कहते-कहते युवराणी के स्वर में रुआँसी भर आई।

सुजान को उस पर दया आ गई पर वह भली-भाँति जानता था कि इस पाप का दंड कितना भयानक हो सकता है ? उसने काँपते हुए कहा—"मैं ऐसा नहीं कर सकता, मुझे डर लग रहा है, आप नहीं जानतीं कि युवराज मुझे जिन्दा जलवा देंगे, आपको क्या पता कि उनका गुस्सा······।"

"खामोश !"

"कुछ भी कहिये युवराणी सा पर मैं···मैं ऐसा काम कदापि नहीं कर सकता, हर्गिज नहीं कर सकता।······ओह ! कितना नीच काम है !"

"तू इसे नीच काम कहता है, मैं कहती हूँ कि यही नीच काम गढ़ की ईंट-ईंट में बसा हुआ है। तुझे उसकी दुर्गन्ध नहीं आती ?······

सुजान, मुझे बदला लेना है।"

"यह आपके लायक काम नहीं है राणी सा !"

"तो रैयत की बहू-बेटियाँ उड़ाकर भ्रष्ट करना युवराज जी का काम है ? तू अभी तक भोला-भाला है, गढ़ के अन्याय को नहीं जानता। ······इन सबकी आँखें तब तक नहीं खुलेंगी जब तक इन्हें ईंट का जवाब पत्थर से नहीं दिया जायेगा।"

"आप देती रहिये, पर मुझ गरीब को क्यों फँसवाती हैं ?"

"तू बड़ा कायर है।"

"युवराणी सा ! मैं आपके पाँवों पड़ता हूँ, मुझे आप खम्मा कर दीजिये, कर दीजिये न !"

"सुजान !"—युवराणी ने सुजान के सिर पर एक ठोकर जमाई।

"आप मुझे जान से मार दीजिये, पर मुझे वह दंड मत दिलवाइये जो यहाँ के दासों को मिलता है, मैं आपको हाथ जोड़ता हूँ,······मैं जाता हूँ।"

"देखो, मैं तुम्हें जान से मरवा दूँगी।"

"मरवा दीजिये !"—दृढ़ता से कहा सुजान ने—"पर ऐसा काम नहीं करूँगा जो मुझे युवराज जी के पद पर लादे।······कमीना होकर मैं मरना नहीं चाहता। मैं इन्सान हूँ युवराणी जी, युवराज की तरह हैवान नहीं हूँ !······मैं जाता हूँ।"

हवा की तरह सुजान बाहर निकल गया।

युवराणी क्रोध और विवशता से तड़पकर रह गई।

एक बार उसने चिल्लाना चाहा पर न जाने वह क्यों रुक गई ? शायद उसके विवेक ने उसे सावधान कर दिया हो। उसकी निगाह एक पल के लिये दीवार पर लगी तलवार पर जमी। बाद में वह अपना आँचल दाँतों के बीच दबाकर फाड़ने का जतन करने लगी, पर उसने अपना निर्णय नहीं बदला। उसने दृढ़ता से निश्चय कर लिया था कि वह जरूर बदला लेगी।······जरूर लेगी।

न बदलेगा मुहब्बत का फसाना

मानसिंह और गायत्री की घटना ने एक नया विस्फोट और किया। नई रानी रंगराय के बेटे भँवर श्री कप्तान बहादुर अमरसिंह का सोया प्यार तूफान की तरह मचल उठा। उसने मन ही मन सोचा, 'हमारी जाति ही ऐसी होती है। सब धर्म और न्याय की ओट में जीवन का आनन्द लूटने की चेष्टा कर रहे हैं।...बड़ी विचित्र नीति है यहाँ की! हर बुजुर्ग अपने आपको बहुत ही समझदार समझता है और दूसरों को उपदेश देता है कि ऐसा काम कोई न करो जो आदमी की आन और शान को बट्टा लगा देता हो।...और वे स्वयं सदा ऐसा ही काम करते हैं। अजीब गोरख-धंधा है। मुझे भी अपने प्यार को अब छद्म नहीं रखा चाहिए, नहीं रखना चाहिए।'

सवेरा हो चुका था।

सूरज की नई किरणें कमरे के पर्दों से अठखेलियाँ कर रही थीं और कभी-कभी एक-दो किरण कमरे में खेल जाती थीं।

अमरसिंह अभी तक बिस्तरे में पड़ा-पड़ा रूपली की सलोनी छवि का मन ही मन वर्णन कर रहा था।

रूपली उसके विवाह में आई दासी थी जिसके रूप पर मुग्ध होकर अमरसिंह ने उसे अपनी पर्दायत (महलों में रहने वाली स्थायी दासी) बनाने का निर्णय कर लिया था। लेकिन महाराजा साहब को यह रिश्ता पसन्द नहीं था। उन्होंने कड़ी आज्ञा देदी थी कि भँवर उसे पर्दायत किसी भी सूरत में नहीं बना सकता। अलबत्ता पासवान (जो दासी जरूरत पड़ने पर अन्तःपुर में आ सके) जरूर बना सकता है। उन्होंने इस आज्ञा के साथ एक चेतावनी भी दी थी कि यदि उसने हमारी आज्ञा का उल्लंघन किया तो हम से बुरा कोई नहीं होगा।

इस कठोर आज्ञा ने अमरसिंह के हौसले पस्त कर दिये। प्यार का

जोश ठंडा पड़ गया। वह दिन-प्रतिदिन रूपली को बहलाता रहा, झूठे आश्वासन देता रहा।

लेकिन ?

मानसिंह द्वारा रहस्यपूर्ण ढंग से जो कांड हुआ था उसने सारे गढ़ में विस्फोट कर दिया था।

अमरसिंह ने सोचा, 'गायत्री बहिन के समान है। उसके साथ भ्रष्टाचार करना अन्याय ही नहीं, अधर्म भी है। फिर भी महाराजा ने उन्हें कुछ नहीं कहा। इसीलिए ही तो नहीं कहा, क्योंकि भाई सा इस गद्दी के हकदार हैं और गद्दी का स्वामी अनाचार और अत्याचार सब कुछ कर सकता है। तब आन और शान का सवाल ? थू है भाई सा पर, रैयत की बेटी को भ्रष्ट कर दिया ! अन्नदाता की परम्परा इतनी पतित है ! तब मैं थू करता हूँ इस पद को। इससे मैं कितना ही अच्छा और श्रेष्ठ हूँ। मैं पाप नहीं कर रहा हूँ।"

अमरसिंह ने अपनी मूंछों पर ताव दिया और फिर सोचने लगा, 'बड़ी-बड़ी बातें करने वालों का हृदय कोयले से भी अधिक काला होता है। कुछ कहते हैं और कुछ करते हैं। उनकी पवित्रता में कितनी कलुषता है, इसे आसानी से नहीं समझा जा सकता।'

विचारते-विचारते अमरसिंह थक गया। पुकारा, "ड्योढ़ीदार, गणपतसिंह जी को बुला लाओ।"

ड्योढ़ीदार उसके पी. ए. गणपतसिंह को बुला लाया।

गणपत ने आकर खम्मा की। क्यों बुलाया है, इसका कारण पूछा।

"जाइये और रूपली को बुलाकर लाइये।"

गणपत प्रणाम करके चला गया।

अमरसिंह के आगे रूपली का चाँद-सा मुखड़ा नाच उठा और नाच उठा अपनी पत्नी का काला पतला मुख। कितना अन्तर था विधाता के निर्माण-कौशल में ? रूपली रूप का खजाना ! कर्त्ता का सजीव कौशल !

मन की पवित्र और बुद्धि की साम्राज्ञी ! बात में आदर और जिन्दगी में गहरी आत्मीयता !

उधर उसकी पत्नी ?

जैसा रंग वैसा ढंग ! न बोली में कोयल की मिठास और न नयनों में खंजन के बांकेपन का आभास ! हब्शी जैसे मोटे-मोटे होंठ और आगे उठी हुई ठोड़ी ।

महान अन्तर !

फिर भी वह रंगराय के पीहर के रिश्ते में थी । बाप की इकलौती बेटी थी । दहेज खूब लाई थी ।

सम्पत्ति ने स्वरूप को अपने स्वर्णिम पंखों में समेट लिया ।

धन की लिप्सा मन की तृष्णा से तीव्र नहीं है ।

अमरसिंह रूपली की ओर बढ़ा । रूपली ने इसे अपना सौभाग्य समझा । पढ़ी-लिखी थी अतः जरा समझ से चलने लगी । उसने अमरसिंह के आदमी को जगाया । कप्तान मरता गया और आदमी जीवित होता गया ।

एक दिन रूपली ने देखा कि भँवर सा की आँखों में आदमी जीवंत सा खड़ा है ।

उसने स्नेहसिक्त स्वर में कहा, "मैं आपके चरणों की दासी हूँ । मुझे अच्छा ओहदा दें ।"

"मैं तुम्हें पर्दायत बनाऊँगा । औरों की तरह तुम्हारी जिन्दगी को बरबाद नहीं करूँगा ।"

"बचन दीजिए ।"

"दिया ।"

प्यार बढ़ता ही गया ।

महाराजा के निर्णय ने अमरसिंह को कमजोर कर दिया । राजा का बेटा विद्रोह नहीं कर सका, पराजित हो गया ।

रूपली को उस दिन मर्मान्तिक वेदना हुई । धीरे-धीरे उसने अमरसिंह

की ओर कठोर रुख अपना लिया। व्यंग से बातचीत करने लगी। बात-बात पर ताने दे दिया करती थी। नखरा, मिजाज और बेहयायी भी उसमें आ गई थी। मानो असफल प्रेम की प्रतिक्रिया नये रूप में उसके अन्तर में अंकुरित हुई हो।

× × ×

रूपली ने कमरे में प्रवेश किया।

अमरसिंह चौंक पड़ा।

"उसने झुककर खम्मा की और नाक-भौं सिकोड़ते हुए लापरवाही से कहा, "आज आँख खुलते ही कैसे ओलू (याद) आई हमारा ?"

"कह नहीं सकता, क्यों तेरी ओलू हरदम सताती रहती है। आओ, मेरे पास बैठो।"

रूपली बैठते हुए बोली, "आप बड़े कमजोर हैं। यहाँ लोग बड़े से बड़ा अन्याय करते जा रहे हैं। सबके हुक्म मिनटों में पूरे होते हैं और आपके ?" वह विडम्बनापूर्ण हँसी हँसकर बोली, "आपके बोल पानी के मोल बिकते हैं, अन्नदाता !"

"यह तू कैसे कहती है, रूपली ! मैं चौंसठ घड़ी तुझे याद करता हूँ। तुझे एक पल भी अपनी आँखों से दूर करना नहीं चाहता। ईमान-धर्म से कहूँगा कि मैं केवल तुझे ही चाहता हूँ, मेरी लाग (प्यार) केवल तुझसे ही लगी है।" उसका स्वर अधिकारपूर्ण हो गया, "मैं तुझे जबरदस्ती भी हासिल कर सकता था, लेकिन मैंने ऐसा नहीं किया। मैं चाहता हूँ कि गढ़ की बलात्-परम्परा का परित्याग करके तुझे प्रीत और विश्वास के साथ प्राप्त करूँ। मुझे यकीन भी है कि मुझे सफलता मोड़ी (देरी) या बेगी (जल्दी) मिल ही जायगी। केवल कुछ बातों ने मुझे परेशान कर रखा है।...रूपली ! तू नहीं जानती कि हमारी गर्दन पर कितनी तलवारें खड़ी हैं। तू ठंडे दिल से सोच, दुख में डूब जायगी।"

अमरसिंह भावावेश में आ गया। रूपली को छूना चाहा। वह सजग हो गई। त्यौरी बदलकर ठसके से बोली, "बस रहने दीजिए

थोथी दलीलें। जब अपनी गरज पड़ती है तब मुझे आभे (आकाश) की अप्सरा बना देते हैं। कहते हैं, तू ऐसी है, वैसी है और जैसे ही मैं पर्दायत बनाने के लिए कहती हूँ, वैसे ही इधर-उधर की करके जफरू की तिग्गी दिखा देते हैं।"

रूपली रूठकर एक ओर बैठ गई।

अमरसिंह के स्वर में प्यार लहरा उठा। समीप आकर बोला "सुन रूपली, तू ठहरी निरी बावली, राज-काज की बातों से अजान। घर वालों की रजामंदी के बिना मैं कोई काम कर लूँगा तो अनर्थ हो जायेगा, माँ सा नाराज हो जायेंगी। लेने के देने पड़ जायेंगे।"

"इसलिए ही मैं कहती हूँ कि आप हजार गज मापते हैं, और फाड़ते एक गज भी नहीं।"

"अक्लमंदी इसी में है कि वक्त को पहचान कर चलो।"

"ठीक है पर आपको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि 'जन-जन का मन राखती वेश्या रह गई बाँझ।' कहीं ऐसा न हो कि अपना भी वही हाल हो।"

रूपली ने बहुत तीखा वाक्य कहा। अमरसिंह के तन-बदन में आग लग गई। लपक कर उसने रूपली का हाथ पकड़ लिया, "छिनालों का रवैया मुझे पसंद नहीं है, रूपली! मुझे गुस्सा दिलाओगी तो कभी अनर्थ हो जायेगा।"

"आप मेरे स्वामी हैं भँवर सा! मेरी जान और साँस आपकी ही है अन्नदाता! लेकिन सच को सच कहना ही पड़ेगा। आपने प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुझे रानी की तरह रखूँगा। असली रानी तू ही है मेरी और अब···?" रूपली की आँखें सजल हो उठीं। मधुरतम स्वर में बोली, "आप ही धर्म से कहिए कि मुझसे कौन-सी गुस्ताखी हुई? अणूती (अनुचित) बात कहती हूँ तो आपकी जूती और मेरा सिर।"

रूपली अमरसिंह के चरणों में बैठ गई।

अमरसिंह ने एकटक देखा। वासना हौले से कह उठी, 'ऐसा रूप और कहाँ ?'

विवेक ने सावधान किया, 'औरत आदमी की पराजय है। सँभल और औरत के वशीभूत न हो।'

वासना ने सव्यंग्य मुस्कराकर कहा, 'अनादि काल से औरत आदमी की विजय बनकर रही है। शास्त्र कहते हैं, 'जहाँ नारी पूजी जाती है, वहाँ देवता रमते हैं।' और यह कुन्दन-सी देह वाली नारी तेरे चरणों में महासमर्पण की चिर-भावना लिए बैठी है। इसकी प्रसन्नता ही तेरी गर्व-भरी जीत है। विवेक तुझे दुर्बल कर रहा है। बढ़, आगे बढ़।'

विवेक अभेद चट्टान की तरह उसके सामने खड़ा हो गया। गंभीर स्वर में बोला, 'वासना आदमी को गड्ढे में ढकेलती है फिर भी आदमी उसे प्यार करता है। क्योंकि वासना का रूप उत्तेजित और सुन्दर होता है। तू सुन्दरता देख पथभ्रष्ट न हो। मैं कहता हूँ रुक जा।'

रूपली ने मादक कटाक्ष करके कहा, "प्यार सर्वोपरि होता है अन्नदाता ! बाधा, भय, आतंक, रुकावट, ऊँच-नीच कोई भी उसे परास्त नहीं कर सकता।" पंथ जरूर विकट है। बहुत-सी लड़ाइयाँ और झगड़े करने पड़ते हैं।"

"ठीक कहती है तू।"

"नहीं, मैं प्रार्थना करती हूँ। चाहती हूँ कि आपके द्वारा गढ़ में प्रेम की नई परम्परा का जन्म हो। प्रेम यहाँ भी स्वच्छंद बयार की तरह हुलसे और फले।"

"ऐसा ही होगा।"

"उस दिन मैं समझूँगी कि मेरे भाग्य का नया सूरज उगा है। हमारी प्रीत जीत गई है।"

अमरसिंह का सीना जोश से फूल गया और रूपली के नेत्र गर्व से चमक उठे।

उत्तर की शीतल समीर के मादक झोंके मन्थर गति से बाग में आ रहे थे।

धूप की किरणें नीम-वृक्ष के कारण रुक गई थीं।

महाराजा साहब बड़ी तन्मयता से समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उनके आगे चाय, बादाम का हलुआ और पापड़ पड़े थे।

अमरसिंह काँपते हृदय से महाराजा के सम्मुख पहुँचा और सिर झुकाकर बोला, "खम्मा अन्नदाता!"

महाराजा ने तनिक नज़र उठाकर उसे देखा फिर समाचार-पत्र पर दृष्टि जमाते हुए बोले, "क्या बात है?"

"अर्ज है··· !" अमरसिंह के मन का साथ जबान ने छोड़ दिया।

"बोलो, चुप क्यों हो गये?"

"मैं रूपली··· !"

"भँवर, हमने हजार बार कह दिया है कि फालतू बातों के लिए हमारे पास वक्त नहीं है। हमने जो भी निर्णय कर दिया है उस पर अमल करो।"

"कसूर माफ हो महाराज, आपका निर्णय··· ।"

"ओह! आज आप हमें उपदेश देने लगे। एक अदनी गोली (दासी) ने आपके हौसले इतने बढ़ा दिए?" व्यंगपूर्ण हँसी हँसकर बोले, "हमसे जबान लड़ाओगे तो नतीजा अच्छा नहीं होगा!" महाराजा ने चाय का कप एक ही साँस में समाप्त कर दिया।

अमरसिंह वैसे बहुत डरपोक प्रकृति का था पर जब गुस्से में आता तब किसी को भी नहीं गिनता था।

सँभलकर बोला, "बस महाराज, जहाँ जरा-सा सवाल किया, आप आपे (दायरे) से बाहर हो गये। आखिर मेरी भी कोई मनसा (इच्छा) है, अरमान है, प्रेम है।"

"प्रेम! प्रेम कभी तुम्हारे बाप ने भी किया था! चले जाओ यहाँ

से । सवेरे-सवेरे बक-बक करने आ जाते हो ।" महाराजा ने उसे झाड़ दिया ।

"लेकिन··· ?" अमरसिंह ने गुस्से में अपना होंठ काट लिया ।

राजा साहब अपमान की आग से तिलमिला उठे । लाल-पीले होकर बोले, "तुम उस गोली की बच्ची को कभी भी अपनी पर्दायितए नहीं बना सकते, यह हमारा फैसला है, समझे ?"

अमरसिंह भी आखिर राजपूत ठहरा । उसका खून गर्म हो उठा । उसकी आत्मा इस अनुचित अत्याचार से तड़प उठी । वह सोच बैठा, 'महाराजा उस पर खामखा जुल्म-ज्यादती कर रहे हैं । खुद आप और युवराज मानसिंह दिन-दहाड़े ऐश करते हैं और मैं अधिकार की माँग कर रहा हूँ तो डाँट रहे हैं, लाल-पीले हो रहे हैं ।' उसका इन्सान सजग हो गया । वह मेज पर हाथ पटकता हुआ जोर से बोला, "मैं उसे पर्दायित बनाऊँगा ही ।"

"नहीं बना सकते ।" महाराजा का हठ पूर्ववत् बना रहा ।

महाराजा का यह कथन अत्याचार सा चारों ओर गूँज उठा ।

अमरसिंह फटी-फटी आँखों से उनकी ओर देखने लगा । अन्तर मौन हाहाकार से विचलित था, 'यही इनकी नादिरशाही है । मेरे अधिकारों पर बलात्कार है । भला इसमें उनका आखिर क्या जाता है ? उफ् ! समझा ! ये जानते हैं कि मेरे ससुराल वाले इस बात से नाराज हो जायेंगे और जो गाँव उनकी मृत्यु के बाद मिलने वाले हैं, वे नहीं मिलेंगे । वे दौलत के लोभ में मुझे पिशाच्चिनी से प्यार करने को कहते हैं । ऐसा नहीं हो सकता, कदापि नहीं हो सकता ।' तब रूपली के तीखे वाक्य उसके कलेजे पर सूइयों के चुभने जैसी पीड़ा कर उठे । उसका आत्म-सम्मान चीख उठा, 'मैं उसे अपनी जरूर बनाऊँगा, जरूर बनाऊँगा ।' यह वाक्य कहते समय अमरसिंह को होश ही नहीं रहा ।

राजा साहब के नेत्र अमरसिंह पर गतिहीन होकर जम गये । मस्तिष्क में क्रोध बिजली की लहर की भाँति दौड़ा !

'यह मुझ से जबान लड़ाता है। मेरा पत्त इतना गिर गया है। मेरा तेज इतना फीका पड़ गया है।' और वे दूने क्रोध से बोले, "कमीने, हमसे जबान लड़ाता है। शर्म कर नालायक।"

अमरसिंह का पौरुष और उसका व्यक्तित्व इस बात को स्वीकार नहीं कर सका। उसे ऐसा जान पड़ा जैसे यह उसके बाप की आज्ञा नहीं है, महाराजा का हुक्म नहीं है, यह सब ज़ुल्म की बुनियाद है जो उसके इन्सान को दबोचकर समाप्त करना चाहती है, तड़पाना चाहती है, अधूरी रखना चाहती है। 'वह भला इतना निर्बल है ? नहीं, उसमें भी राजा का रक्त है, मैं भी उसी राजपूत बाप का बेटा हूँ। मुझ में भी रक्त-गर्व है। मेरी आत्मा भाई सा मानसिंह की तरह कलुषित नहीं, मैं किसी पर बलात्कार नहीं कर रहा हूँ। मैं प्यार करता हूँ, प्यार !'

वह शेर की तरह गुर्रा उठा, "मैं नालायक हूँ, बदमाश हूँ पर मैं आपका यह हुक्म नहीं मान सकता। मैं उसे पर्दायत बनाऊँगा ही।" आवेश में अमरसिंह के होंठ काँप उठे।

"तो मैं तुम्हें गोली से उड़ा दूंगा। जानते हो हमारा नाम राजसिंह है।"

"मरते मन में ही ले जायेंगे।" अमरसिंह ने चुनौती दी और लौट आया।

बीच में ही मिल गया मानसिंह।

उसे रोकते हुए बोला, "महाराजा का तुम्हें अदब रखना चाहिए।"

"क्यों ?"

"वे हमारे पूज्य हैं, आदर्श हैं, सर्वस्व हैं।"

"आपके होंगे ?"

"और तुम्हारे···!"

"मेरा इस संसार में कोई नहीं है।

मानसिंह ने पैंतरा बदला। स्नेहसिक्त स्वर में बोला, "भँवर, धैर्य

से काम लो। रूपली जैसी दासियाँ कई तुम्हें मिल जायेंगी पर उसके पीछे गृह-दाह लगाना अच्छा नहीं है।"

"आप मुझे समझा रहे हैं!" व्यंग से कहा अमर ने।

"हाँ तुम्हें ही, क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम अपने दिल को दुख देकर ठंडे हो जाओगे। हार जाओगे।···मैं जानता हूँ कि महाराजा तुम पर अत्याचार कर रहे हैं और वक्त आने पर तुम्हें गोली से भी उड़ा सकते हैं, पर···।"

"पर क्या?" अमरसिंह ने हठात् पूछा।

"मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी कुत्ते-सी मौत न हो।"

"भाई सा! मुझे मारने वाला अभी तक जन्मा ही नहीं है। मैं सब को गोली से उड़ा दूँगा।"

"नादानी छोड़ो और महाराजा के हुक्म की तामील कर लो। रूपली-वूपली को गोली मारो।"

"गोली मारो। हुँ!" कहकर अमरसिंह अपने कक्ष की ओर चला आया।

मानसिंह ने मौन-भरा अट्टहास किया।

× × ×

रूपली मसनद के सहारे लेटी हुई थी।

उसने मधुर मुस्कान से अमरसिंह का स्वागत किया। अमरसिंह सारे गुस्से को पीकर मुस्करा उठा।

"ऐसा लग रहा है कि आप जीत कर आये हैं?"

"हाँ रूपली, मैं जीत गया हूँ, अपराजयी बन गया हूँ। अब तू मेरी सदा रहेगी।"

"सच!"

"झूठ नहीं बोल रहा हूँ, बावली! तू ही कहा करती थी कि प्रीत कभी पराजित नहीं होती। उसे जुग की कोई ताकत नहीं हरा सकती। आज तेरी प्रीत जीत गई है।"

रूपली अनिमेष दृष्टि से अपने अमर को देखती रही। अमर की आँखों में विश्व का अपनत्व समाया हुआ था। उस गहराई में वर्ग-भेद-जनित दो हृदयों की शाश्वत प्यास झाँक रही थी। रूपली विभोर हो उठी। सन्निकट आकर बोली, "सचमुच हम जीत गये।"

"कल से तेरा नया जीवन आरम्भ होगा। मैं राजा और तू रानी होगी। जिन्दगी, सुख और सन्तोष !"

"अब कल बड़ी देर से आयेगा।"

"सच कहती है तू, सुख का एक कल दुख की हजार रातों से बड़ा होता है लेकिन जब वह आता है तब हजार रातों का दुख उसकी एक झलक में विलीन हो जाता है।"

"जाऊँ ?"

"जा !"

रूपली चली गई।

अमरसिंह कमरे में अकेला रह गया। अकेले में महाराजा की आवाज़ गूँज उठी, "मैं तुम्हें गोली से उड़ा दूँगा।"

मानसिंह का व्यंग, "मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी कुत्ते-सी मौत न हो।"

दुख, क्रोध, ग्लानि और विक्षोभ !

लानत है ऐसे जीवन को !

अमरसिंह ने जोर से पुकारा, "गणपतसिंह !"

"जी हुज़ूर !" झुकते हुए गणपतसिंह ने कहा।

दरवाजा बन्द कर लो।

गणपतसिंह ने दरवाजा बन्द कर लिया।

"पिस्तौल दो।"

गणपतसिंह ने अपनी पिस्तौल काँपते हाथों से दे दी।

अमरसिंह पिस्तौल को हिला रहा था। गणपतसिंह अशुभ शंका कर निश्चल हो गया था। बड़ी मुश्किल से बोला, "क्या हुक्म है ?"

"लो !" उसे पिस्तौल पकड़ा कर अमरसिंह आज्ञा भरे स्वर में बोले, "मुझे गोली मार दो।"

गणपत निर्जीव हो गया।

"मैंने कहा, उसे सुना ?"

"मैं···मैं···मैं आपको···!"

"हाँ मुझे गोली मार दो।"

"कैसे ?"

"जैसे एक बहादुर एक बहादुर को मारता है।"

"यह मुझ से नहीं होगा।" कहकर गणपतसिंह उसके चरणों में लोट गया।

अमरसिंह का क्रोध भड़क उठा। उसके सिर पर लात मारकर बोला, "गोले के जाये, तू शेरों को क्या मारेगा ? उठ, मैं ही तेरा काम तमाम कर देता हूँ।"

"मगर क्यों ? भँवर सा, मैंने कौन-सा कसूर किया है ?"

"तूने मेरे साथ जीवन के सुख को भोगा है। जिन्दगी में पल्लू नहीं छोड़ा फिर मौत के समय गद्दारी क्यों करते हो ? मित्र ! सच्चे मित्र की यही पहचान है।"

"पर···?"

"इतिहास मेरे साथ तुम्हें भी याद रखेगा।" और अमरसिंह ने बड़े इतमिनान से गणपतसिंह को गोली का शिकार बना दिया। वह जमीन पर तड़पने लगा।

गोली की भयानक दो आवाजों ने गढ़ को हिला दिया। गढ़ में हलचल मच गई। किवाड़ तोड़े गये। सबने देखा—स्वामी के साथ उसका वफादार नौकर भी चिर-निद्रा में सोया हुआ है।

× × ×

आत्महत्या के भेद को गढ़ की चहारदीवारी में छुपा दिया गया।

प्रचार किया गया कि कल रात भँवर सा सीढ़ियों से गिर पड़े, इससे उनकी मृत्यु हो गई।

अर्थी के जलूस में राजवी ठाकुर, सामन्त, उमराव, सेठ और जनता सम्मिलित हुई। उस समय स्वयं महाराजा ने नेत्रों में गंगा-यमुना भर कर करुण क्रन्दन किया और अपने भाग्य को कोसते हुए कहा कि भगवान ने हमें यह दिन दिखाने के पहले मार क्यों नहीं दिया?

उस दिन राज्य की ओर से भिखारियों को खैरात बाँटी गई, कुओं का पानी मुफ्त कर दिया गया, शहर के ब्राह्मणों को इतनी दान-दक्षिणा दी गई कि उन्होंने खुले दिल से कहा कि भगवान हमारे भँवर सा को मोक्ष दे।

और मानसिंह?

अश्रुओं को पोंछता हुआ कह रहा था, "धनसिंह, इसका हक भी हमारा ही है। अब भगवान महाराजा को···।"

धनसिंह ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

अर्थी श्मशान घाट की ओर चली।

जो मंजूरे खुदा होता है!

रात वैधव्य की आग में सुलगती गढ़ के कंगूरों पर निष्पन्द-सी उतरी।

अमरसिंह की बहू अजयकुँवर के महल में घोर अन्धेरा था। वह विकराल भवानी बनी हुई चिल्ला-चिल्लाकर कह रही थी, "मेरे सरताज को महाराजा ने मार डाला, महाराजा ने मार डाला।"

मानसिंह यह सुनकर प्रमुदित हो उठा। धनसिंह से बोला, "भाग्य

किसी भी अवरोध को नहीं मानता । अच्छा ही हुआ कि अजयकुँवर बहू ने महाराजा से अपनी दुश्मनी बांध ली ।"

"इससे ?"

"वह अब हमारा पक्ष लेगी ।" क्रूरता भरी मुस्कान मानसिंह के होंठों पर आई ।

गहरी शून्यता !

कोई नहीं बोला ।

मानसिंह ने कुछ देर के बाद कहा, "अच्छा हो कि भगवान अब महाराजा को···।"

"ऐसे भाग्य हमारे कहाँ ? महाराजा ने बहुत दूध-घी पी रखा है, जल्दी से टिकट कटाने वाले नहीं हैं ।"

"खैर, अपने किये से क्या होता है, होता तो वही है जो उस परमात्मा को मंजूर है ।"

हलकारा भागा-भागा आया ।

"युवराज जी को खम्मा ।"

"क्या है ?"

"महाराज···?"

"क्या हुआ महाराजा को ?"

"कमरे में चहल-कदमी करते-करते एकाएक गिरकर बेहोश हो गये ?"

"हैं !" मानसिंह ने धनसिंह की ओर देखा और एक संकेत किया। धनसिंह चला गया ।

क्षण भर सन्नाटा छाया रहा ।

मानसिंह ने जाते ही आज्ञा दी, "डाक्टर आयंगर को बुलाओ ।"

डाक्टर आयंगर आया ।

महाराजा को जाँचा और मानसिंह को नजदीक बुलाकर कहा,

"दिल पर गहरा सदमा पहुँचा है, आराम दीजिए। मैं अभी इन्जेक्शन देता हूँ। चिंता की कोई बात नहीं है।"

मानसिंह अचल खड़े रहे।

विचारों के संघर्ष के कारण उनके चेहरे पर स्वेदकण उभर आये। बाहर दीवान जी खड़े थे। उनका मुँह उतरा हुआ था।

मानसिंह ने संभलते हुए आयंगर को एक किनारे लेजाकर कहा, "डाक्टर, ऐसा दवा दो कि महाराजा वापस उठें ही नहीं।"

आयंगर पर वज्रपात हो गया। वह स्थिर दृष्टि से मानसिंह की ओर देखता रहा।

"देखता क्या है? नये अस्पताल का पी. एम. ओ. बना दूँगा। नगद दस हजार दूँगा।" कहकर मानसिंह ने अपनी आँखें पोंछी।

दीवान जी ने घबराकर पूछा, "क्या बात है युवराज जी?"

"धर्म-पुण्य कराइये।"

दीवान जी राजवी सामन्तों को एकत्र करने व गौ-दान इत्यादि कराने चले गये।

आयंगर ने कोई जवाब नहीं दिया।

उसने चुपके से जहर राजा जी के शरीर में उतार दिया। धीरे-धीरे महाराजा के प्राण-पखेरू उड़ गये। डाक्टर ने आँसू पोंछते हुए कहा, "बन्दा कुछ नहीं कर सकता।"

मानसिंह को तुरन्त राजगद्दी पर आसीन कराया गया।

तोपों की सलामी दी गई।

खुशी व रंज का एक अजीब समाँ बंधा हुआ था!

पथ के दावेदार

राजा मानसिंह का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से हुआ।

इस पवित्र अवसर पर उनकी सवारी[1] शहर भर में बड़ी धूमधाम से निकली। रैयत ने उनका हार्दिक अभिवादन किया।

सवारी में पलटन, बैंड, पैदल फौज, घोड़े, ऊँट और हाथी थे। उनके निजी हाथी पर स्वर्ण-सिंहासन रखा था जिस पर श्री जी साहब बहादुर महाराजाधिराज राजा मानसिंह विराजमान थे।

उनके पीछे सजे हुए रथ, पालकियाँ तथा अन्य प्रदर्शन की वस्तुएँ थीं। राजा साहब के हाथी के आगे प्रतिष्ठित ठाकुर, उमराव, ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्ति थे।

सड़क के दोनों ओर रैयत खड़ी थी—क्या स्त्री, क्या पुरुष और क्या बच्चे। जैसे-जैसे राजा साहब की सवारी गुजर रही थी, तीव्र स्वर में रैयत उनका जयघोष कर रही थी—"घणी खम्मा अन्नदाता,'''खम्मा अन्नदाता, घणी-घणी खम्मा अन्नदाता, महाराजा मानसिंह जी की जय, प्रजापालक नरेन्द्र शिरोमणि की जय!"

सवारी गुजर रही थी। रैयत में नया उत्साह और नई उमंग दीख रही थी।

सवारी में ठाकुर धनसिंह जी की शान देखते ही बनती थी। एड़ी से चोटी तक देखने पर बरबस मुँह से यह निकल जाता था कि आप "बिकाऊ बीन" हैं। जानबूझ कर निकाला हुआ सीना, दंभ भरी सब पर पड़ती हुई दृष्टि, बिना पूछे ही सबसे "जै माता जी" की करनी, इस बात की द्योतक थी कि सौ दिन सुनार के आते हैं तो एक दिन लुहार का भी आता है। अब इस राज्य की बागडोर हमारे हाथ में आने वाली है।'''और

१. जुलूस

तमाशा देखिये, जो ठाकुर और उमराव धनसिंह को अपनी आँख का काँटा समझते थे, आज झुक-झुककर उनका अभिवादन कर रहे थे। लेकिन जब दीवान जी ने मुलक[1] कर अभिवादन किया तो धनसिंह जी चुप नहीं रह सके। क्योंकि दीवान जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने धनसिंह जी की धज्जियाँ उखेड़ने में पूरा अभिनय किया था।

आज उन्हें अपने सम्मुख नम्रता से झुकते हुए देखकर धनसिंह जी ने व्यंग कस ही दिया—"आज रास्ता भूल गये क्या, दीवान जी ?"

"यह आप क्या कह रहे हैं ठाकुर सा ?"

"यह आप अपने कलेजे पर हाथ रखकर पूछिये। आपने शायद यह समझा था कि अपना सावन सदा सुरंगा ही रहेगा। लेकिन ईश्वर सबको देखता है।"—धनसिंह जी ने व्यंग कसा।

दीवान जी पश्चात्ताप भरे स्वर में बोले—"ठाकुर सा ! कभी-कभी बड़े-बड़े आदमियों की मति घास चरने चली जाती है। न जाने आप जैसे आज्ञाकारी व्यक्ति के बारे में मेरे मन में बुरे विचार क्यों पैदा हो गये थे, कुछ समझ में नहीं आता, मैं तो इसे किसी ग्रह का चक्कर समझता हूँ।"

धनसिंह जी रुखाई से बोले—"कोई बात नहीं है दीवान जी, समय-समय की बात है।"

तभी जोर का जयघोष हुआ।

धनसिंह जी ने महाराजा मानसिंह जी की ओर देखा—"वे जनता का अभिवादन कर रहे थे, दोनों हाथों से। वह भी सिर झुका-झुकाकर।

धनसिंह जी ने देखा कि एक ओर भीड़ में जोर की धक्काधक्की हो रही है तो उन्होंने तुरन्त एक पुलिस वाले को कहा कि एस. पी. साहब को बुला लाओ।"

सुपरिंटेन्डेंट ऑफ पुलिस श्री दौलतसिंह ने आकर धनसिंह जी के आगे सिर झुकाया। धनसिंह जी ने उन्हें कहा—"चौराहे वाली भीड़

---

१. मुस्कराकर

पर काबू जमाया जाय, नहीं तो रैयत सवारी में गड़बड़ी पैदा कर देगी।"

"जो हुक्म !"—वह पुनः सैल्यूट करके चला गया।
धनसिंह जी ने अपनी मूँछों पर ताव दिया।

सवारी आगे बढ़ रही थी।

जयघोष से गगन ध्वनित-प्रतिध्वनित हो रहा था।

ठीक दोपहर को एक बजे सवारी पुनः गढ़ में पधारी।

× × ×

शहर की जनता ने सात ही दिनों में बहुत से परिवर्तन देखे।

ठाकुर धनसिंह जी शहर के दीवान बन गये थे। उन्होंने अपने तमाम सम्बन्धियों को ऊँचे पदों पर बिठा दिया था। रैयत इन्हें इनकी धींगाधींगी न समझे, इस वास्ते धनसिंह जी ने रैयत के लिये पानी मुफ्त कर दिया। रैयत के जाति पंचों को अपने डेरे पर निमन्त्रण देकर उन्हें खूब खिलाया-पिलाया, उनके चरण-स्पर्श किए, उनकी सार्वजनिक संस्थाओं को चन्दा दिया। फिर क्या था, दीवान धनसिंह जी का शहर में बोल-बाला हो गया।

उस दिन की बात थी। दीवान धनसिंह जी राजा मानसिंह जी के पास ब्रिटिश सरकार के वायसराय का पत्र लेकर आए जिसमें उनसे माँग की गई थी कि आप युद्ध के लिए अपनी रियासत से एक बड़ी संख्या में रंगरूट दें।

राजा मानसिंह जी ने तुरन्त अपने दीवान जी से इस विषय पर विचार-विमर्श किया। दीवान जी ने निवेदन किया—"इन मूर्ख गाँव-वालों को भुलावा देकर फौज में भर्ती करा दिया जायेगा, आप चिंता न करें!"

राजा मानसिंह जी को इस बात पर अपार प्रसन्नता हुई। धनसिंह जी ने इस जटिल समस्या का इतना सरल और शीघ्र समाधान पाकर अपने अन्नदाता से अर्ज किया—"महाराज ! इस दास की गुस्ताखी माफ़

करें तो एक अर्ज करूँ।"—धनसिंह मानसिंह जी की दुर्बलता को भली-भाँति जानता था।

"कहिये ठाकुर-सा, कहिये।"

"बात यह है महाराजा···!"—बीच में ही धनसिंह जी चुप हो गये। हालाँकि वे मानसिंह जी के स्वभाव से परिचित थे फिर भी उन्हें भय था कि कहीं राजा साहब उनके संग अनीति न करदें। अब मानसिंह जी राजा हैं और राजाओं की बात का क्या भरोसा? झट गिरगिट की भाँति रंग बदल देते हैं।

"आप कहते-कहते चुप क्यों हो गये?" महाराजा ने झटके के साथ कहा।

"अपने शहर में एक बहुत······।"—राजा मानसिंह जी कुछ बोलें इसके पहले ही धनसिंह जी ने सिर झुकाकर कहा—"आप मेरी बात का तात्पर्य समझ गये होंगे, ऐसी लड़कियाँ आपके महलों की शोभा बढ़ा सकती हैं।"

"कौन है, कहाँ से आई है?"

"पंजाब से आई है, नाम तो याद नहीं है, पर उस लड़की को मिसेज पुरी कहते हैं।"

"तो क्या वह शादी-सुदा है?"—उपेक्षा से राजा जी ने पूछा।

"जी, उसका पति भी एक अत्यन्त चतुर व्यक्ति है। मिसेज पुरी स्वयं एम० ए पास हैं।"

"हमें एक बार आज रात को दिखाइए लेकिन देखिए ठाकुर-सा! बात दूसरे कान न जाए। ऐसी बातों से रैयत में हमारा मान दो कौड़ी का रह जायेगा···हम रैयत में धर्मावतार तथा प्रजा-पालक ही बने रहना चाहते हैं।"—राजा मानसिंह जी की दृष्टि धनसिंह जी पर जम गई, जैसे उनकी दृष्टि अपने दीवान जी को कह रही है कि यदि आपको इस बात का भरोसा है तो आप बात को आगे बढ़ाइयेगा।

धनसिंह जी कुछ आश्वस्त होकर सीने को ठोंकते हुए तनिक तेज

स्वर में बोले—"अन्नदाता ! मैंने भी कोई कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं। आखिर राजपूत का बेटा हूँ, काम करूँगा तो पक्का ही करूँगा नहीं तो उसमें हाथ भी नहीं डालूँगा।"

"इस बात का हमें पूरा विश्वास है लेकिन आप मिसेज पुरी से मिले होंगे ?"

"हाँ-हाँ!"

"कैसा स्वभाव है ?"

"बड़े नखरे से मटक-मटककर बात करती है। कहती है कि मेरे पास सब कुछ है पर काम का अभाव है। तब मैंने अन्दाज लगाया कि यह अभाव ही उसके स्वभाव की कुँजी है।···उसे कैसे परास्त किया जायेगा यह सब आप इस चाकर पर छोड़िये।"—धनसिंह जी के स्वर में विश्वास था जिसका भरोसा राजा मानसिंह जी को करना ही पड़ा।

"आज उसे मान-निवास में लाया जाय, पहले हम उसको अपनी आँखों से देखेंगे।" महाराजा ने कुछ पी रखी थी।

"अब मुझे जाने का हुक्म फरमाया जाय।"

"आप जाइए।"

"खम्मा अन्नदाता।"—धनसिंह जी चले गये।

× × ×

दोपहर का समय था।

धनसिंह जी मिसेज पुरी से अपने डेरे में मिले।

मिसेज पुरी के साथ मिस्टर पुरी को न देखकर धनसिंह जी को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने तपाक से पूछा—"क्या बात है कि आपके साथ मिस्टर पुरी नहीं आये ?"

"वे कहीं और गये हैं, उन्होंने कहा कि ठाकुर सा अपने घर के ही आदमी हैं। सच कहती हूँ कि वे आपकी बातों से इतने प्रभावित हुए कि बस हर समय वे आपकी ही तारीफ में लगे रहते हैं।"—मिसेज पुरी के होंठों पर मन्द मुस्कान थी।

"यह तो सज्जन आदमियों का स्वभाव होता है मिसेज पुरी।"—धनसिंह जी जरा बड़प्पन से बोले—"भला-बुरा करना आदमी का काम नहीं; भगवान् के वस में है।···आप और हम तो केवल निमित्त[1] मात्र हैं।"

"आपने हम परदेसियों के बारे में कुछ सोचा ?"

"हाँ, सोचा तो है, हमारी इच्छा यह है कि 'रानी कालेज' की प्रिन्सिपल आपको बनवा दें और आपके पति को किसी आफिस का अफसर ! क्योंकि आपके रंग-ढंग से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।"

"देखिये दीवान जी, हम तो आपकी शरण में हैं। आप जैसा कहेंगे हम करेंगे"—कहकर मिसेज पुरी ने ठाकुर सा को अपने कटाक्ष का निशाना बनाया।

"आपके लिये ठंडा-गर्म मंगाऊँ ?"

"इसकी क्या जरूरत है।"

धनसिंह जी ने यह सोचकर कि यह चिड़िया अपने जाल में आ सकती है या नहीं, अपने मुँह को उनके कान के सन्निकट लाकर पूछा—"यदि आपको परहेज न हो तो 'वाइन' मंगाऊं।"

मिसेज पुरी ने मुस्करा कर कहा—"मैं तो इन मामलों में काफी एडवांस हूँ पर आपके घर वाले, यानी मेरे कहने का मतलब है कि आपकी वाइफ को तो कोई एतराज नहीं होगा ?"

"वाइफ ! वह पर्दे में बन्द है।"—लापरवाही से धनसिंह जी बोले—"उनका विरोध और झगड़ा सिर्फ पर्दे के भीतर ही रहता है, समझीं आप ?"

"फिर चलिये।"

"हाँ, यह दूसरे कमरे में ही पिया जायेगा।"—कहकर दोनों ड्राइंग रूम में आये।

---

१. कारण।

उसका द्वार बन्द हुआ।

कहकहे, हँसी और प्यालों के खनकने की आवाज ! और उन सब में से नैतिकता और नग्नता का यह वाक्य बिजली की रोशनी की भाँति गूँज पड़ा—"मेरे पति क्या एतराज करेंगे ठाकुर सा ! उन्होंने सदा मेरे द्वारा ही मौज की है। उनसे एक पैसा भी 'अर्न्ड' नहीं किया जा सकता लेकिन खर्च करने के लिये उन्हें हमेशा दस रुपये चाहियें। उन दस रुपयों से ही वे अपने मित्रों और परिचितों पर रौब गाँठते हैं।"

× × ×

संध्या का सन्नाटा शनैः-शनैः धरती पर छाने लगा। तारों के क्षीण आलोक में 'मान-निवास' के कंगूरे चमक रहे थे। सबसे ऊपरी कंगूरे पर उदास मन बैठी हुई चील उड़ी। पहरेदार सजग हुआ कि धनसिंह जी की मोटर ने प्रवेश किया।

राजा मानसिंह जी आज अपनी माँ सा रंगराय से मिलने के लिये चले गये थे अतः अभी वे अनुपस्थित थे। तब धनसिंह जी मिसेज पुरी को समझाने लगे कि वे आयें तो उनके समक्ष मेरे साथ-साथ किस प्रकार अभिवादन करना चाहिये, आदि।

लगभग एक घंटे के बाद राजा मानसिंह जी गढ़ में पधारे। ठाकुर सा और मिसेज पुरी ने खड़े होकर प्रणाम किया—"खम्मा अन्नदाता !"

राजा मानसिंह जी उनकी ओर पलभर देखकर अपने कमरे में पधार गये। दीवान धनसिंह जी मिसेज पुरी को वहीं पर छोड़कर महाराजा के पीछे-पीछे आये। कमरे में प्रविष्ट होते ही राजा मानसिंह जी बोले—"हमने उसे देख लिया है, अब उसे भेज दीजिए, कह दीजिये—अभी महाराजा को समय नहीं है।"

"जो हुक्म !" धनसिंह जी पुनः मिसेज पुरी के पास आये। मिसेज पुरी ने हठात् पूछा—"मैं आपके साथ चलूँ ?"

"नहीं, आज उन्हें फुर्सत नहीं है।"

मिसेज पुरी के मन पर आघात लगा। उसे शंका हुई कि

कहीं बना-बनाया काम न बिगड़ जाय अतः वह ठाकुर सा का हाथ अपने हाथ में लेती हुई बोली—"सुनिये दीवान जी, मैं आप की हरएक आज्ञा को मानने को तैयार हूँ, पर आपने जो मुझे आश्वासन दिया है, उसे पूरा कर ही दीजिये।"

इस पर ठाकुर धनसिंह जी को तरस आ गया—"मिसेज पुरी! आप बड़ी कमजोर दिल हैं। राजपूत का वचन कभी बदला है! रघुकुल रीत सदा चली आई, प्रान जाय पर वचन न जाई—हम उस वंश के हैं।"—मिसेज पुरी ने देखा कि दीवान जी का सीना गर्व से फूल उठा है। उनकी आँखें आशा से चमक उठी हैं।

"तो मैं चलूँ?"

"हाँ, आप चलिये, कल दोपहर को १२ बजे आप मुझ से मेरे डेरे पर मिल लीजियेगा।"

"बहुत अच्छा!"—कहकर मिसेज पुरी मान-निवास के बाहर हो गई।

धनसिंह जी पुनः राजा मानसिंह जी की सेवा में उपस्थित हुए। राजा मानसिंह जी ने मूँछों पर ताव देते हुए कहा—"इस मिसेज को तो छोड़िये ठाकुर सा, इसके द्वारा कोई और काम बनाइये।"

"अन्नदाता की आशीष मिलनी चाहिये, बड़े-बड़े काम बन जायेंगे, यह कौन-सी बड़ी बात है!"

"मतलब?"—मानसिंह जी ने शीघ्रता से पूछा।

"मैंने इसे ऐसे हाथों लिया कि यह इशारे पर नाचने लगी है।"

"अच्छा?"

"मैंने मिसेज पुरी से कहा आपको हम रानी कालिज की प्रिन्सिपल बना देंगे और आपके पति को किसी ऑफिस का अफसर। महाराज! यह सुनते ही उसकी बाछें खिल गईं। हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी—"आप जो आज्ञा देंगे, मैं उसे तन-मन से पूरी करूँगी।" मैंने कहा कि आज्ञा कुछ टेढ़ी है सो सीना तानकर बोली कि कैसी भी क्यों न हो, मैं आपको

विश्वास दिलाती हूँ कि उसे पूरा करके ही दम लूँगी ।"

"बहुत खूब !"

"तो फिर ?"

"जैसा मैंने कहा है वैसा ही कीजिये ।"

"अब मुझे जाने की आज्ञा दें ।"—प्रणाम करके धर्नसिंह जी चले गये ।

दूसरे दिन धर्नसिंह जी की मिसेज पुरी से दुबारा भेंट हुई । पैग के साथ कुछ गम्भीर विचार-विमर्श भी हुआ पर गुप्त ही । और उसी समय स्कूल इन्सपेक्टर को यह आर्डर जारी कर दिया गया कि रानी कालेज की प्रिन्सिपल की बदली कहीं और कर दी जाय तथा उसकी जगह मिसेज पुरी को प्रिन्सिपल नियुक्त कर दिया जाय ।

× × ×

सात माह बीत गये ।

मिसेज पुरी की प्रसिद्धि केवल रानी कालेज की चहारदीवारी तक सीमित नहीं रही बल्कि सारे शहर में उसकी भलमनसाहत का सिक्का जम गया । इसका मुख्य कारण था कि मिसेज पुरी ने कई स्थानों पर लड़कियों द्वारा उत्सव मनवाये तथा कई सार्वजनिक धार्मिक कार्यों में उनके द्वारा स्वयं-सेविकाओं का कर्तव्य निभवा कर अपना प्रचार करवाया ।

इस बीच उसके पति भी डी. सी. एस. के आफिसर हो गये ।

लेकिन एक दिन—

रानी कालिज में एक सनसनीखेज घटना घटित हुई ।

तीन बजे थे । कालिज की चपरासिन ने एक छात्रा सन्तोष को धीमे से कहा—"सुना संतोषबाई, स्वर्णलता को गर्भ ठहर गया है ।"

"कौन-सी स्वर्णलता को ?"—उसने आश्चर्य से पूछा ।

"अरी वही, जो फर्स्ट इयर में पढ़ती है ।"

"स्वर्णलता कपूर !"

"हाँ !"

बस फिर क्या था। देखते-देखते सारे कालिज में यह बात हवा की तरह फैल गई।

स्वर्णलता कपूर के पिता भी साधारण व्यक्ति न थे। उन्होंने तुरन्त इसके विरुद्ध कार्य किया। वे कालिज आये। मिसेज पुरी से इसके बारे में सवाल किये।

मिसेज पुरी सहानुभूति के बजाय भड़क कर बोली—"इन सब बातों का ठेका हमने नहीं ले रखा है। आपकी बेटी की व्यक्तिगत जिंदगी क्या है, इससे हमें कोई सरोकार नहीं ?"

वे कड़क कर बोले—"मेरा नाम भी कन्हैयालाल है, सब कुछ जानता हूँ। सबका भंडा फोड़ कर दूँगा।"—कड़ी चेतावनी देकर कन्हैयालाल जी उसी पाँव घर लौट आये।

स्वर्णलता एक कमरे में बन्द थी। उस कमरे के फाटक पर अलीगढ़ का ताला लगा हुआ था। कन्हैयालाल जी की पत्नी रो-रो कर निढाल हुई जा रही थी। स्वर्णलता का छोटा भाई स्वर्णलता को जोर-जोर की गालियाँ दे-देकर कोस रहा था। वह गर्ज-गर्ज कर कह रहा था—"मैं ऐसी बहिन का गला घोंट दूँगा, पाजी कहीं की, अपने यार का नाम तक नहीं बताती।"

"वह क्या नहीं बतायेगी, उसके बाप को बताना होगा।"—घर में प्रवेश करते हुए कन्हैयालाल जी ने चुनौती दी—"मारते-मारते अक्ल ठिकाने ला दूँगा।"

कन्हैयालाल जी ने ताला खोला। स्वर्णलता की रोते-रोते आँख लग गई थी। बहते हुए आँसुओं के हल्के-हल्के चिह्न उसके गालों पर बन गये थे। उसकी बर्बरता से खींची हुई निर्दोष अलकें उसके श्वास के आवागमन से हिल रही थीं। उसका मुलायम तन कोड़ों की मार से सूज गया था।

कन्हैयालाल जी ने एक पल के लिये स्वर्णलता को देखा। पिता

का सीना पितृत्व से भर आया पर दूसरे ही क्षरण पितृत्व की जगह सम्मान चीखा—'यह तुम्हारी बेटी नहीं, नागिन है। कुल कलंकिनी है।'

तब कन्हैयालाल जी ने उसकी हिलती हुई लट को जोर से पकड़ कर डाँटा—"चाण्डालिनी ! तू साफ-साफ बतायेगी या हमारे हाथों अपना गला घुटवाकर ही रहेगी।"

"बाबूजी ! मुझे मत मारिये, मैं आपकी गाय हूँ।"—पतझड़ के पीले पत्ते की भाँति काँपती स्वर्णलता ने अपने बाप के पाँव पकड़ लिये।

"मैं तेरी कसम खाता हूँ कि मैं तेरे हाथ भी नहीं लगाऊँगा पर तू उस व्यक्ति का नाम तो बता दे जिसका यह पाप है।"—कन्हैयालाल जी ने उसके बालों को सहलाते हुए पूछा। स्वर्णलता की माँ ने भी इस मौके पर अपना विश्वास स्वर्णलता को दिया—"बता दे न लता, यदि तू सच्ची बात बता देगी तो तेरा बाल बाँका भी नहीं होगा और हमारी भी इज्ज़त बच जायेगी।"

"अच्छा बताती हूँ।—पीड़ा से क्रन्दन करती हुई उसकी आँखें दीवार पर जम गईं—"बात गत फरवरी और मार्च माह की है।" उसने जो बताया उसका आशय यह है :—

मैट्रिक की परीक्षा के दिनों जब विद्यार्थी रात-दिन कठोर श्रम करके इस कठिन घाटी को पार करने की चेष्टा करते थे, लता भी इस चेष्टा में अपना खून-पसीना एक कर रही थी। पर मैथेमेटिक में वह इतनी कमजोर थी कि उसे अपनी आशाओं पर पानी फिरता नजर आया। अर्ध वार्षिक परीक्षा में उसको मैथेमेटिक के तीनों परीक्षा-पत्रों में केवल सात नम्बर प्राप्त हुए थे अतः वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होना दुरूह नहीं, असम्भव-सा लगा।

इसी का सहज हल लेने के लिए वह अपनी प्रिन्सिपल साहिबा मिसेज पुरी के घर गई। मिसेज पुरी लता के सूरज से चमकदार मुख

को देखकर मोहित हो गई। वह उसे प्यार से निहारती रही, एक पल नहीं, कई पल ! लाचार लता की आँखें मुस्कराकर झुक गईं। मिसेज पुरी ने उन अधरों पर बिजली की भाँति चमकती हुई एक मुस्कान देखी। उस मुस्कान में मनुष्य की प्रगति, खुशियाँ, कहकहे, आने वाली जवानी के मुहब्बत भरे गीत, भोले तराने और न जाने उसे क्या-क्या महसूस हुए। उसके चेहरे का पीले गुलाब-सा रंग उसकी आत्मा की भावना को जगाने लगा। उसके हृदय में उसकी तस्वीर समा गई। मिसेज पुरी अपनी भावनाओं को दबाती हुई पूछ बैठी—"बोलो लता, आज यहाँ आने का कष्ट क्यों किया ?"

लता कुछ आश्वस्त हुई, संकोच को लम्बी उसाँस द्वारा हृदय से बाहर निकाला। तब उनके समीप बैठती हुई बोली—"मुझे मैथेमेटिक में पास न होने का डर है।"

गिरगिट जिस शीघ्रता से रंग बदलता है, ठीक उसी प्रकार अपनी मुख-मुद्रा और स्वर को बदलती हुई मिसेज पुरी बोली—"डर नहीं, संभावना कहो, तुम मैथेमेटिक में पास हो ही नहीं सकती।"

जैसे खिला हुआ गुलाब मुर्झा जाता है उसी प्रकार लता का चेहरा उदास हो गया। इस असफलता पर उसका आत्म-सम्मान चीख उठा। आँखों से आँसू अनायास ही छलक आये। विवश नारी की भाँति उसकी व्यथा मौन-क्रन्दन कर उठी। वह सिसकियाँ लेने लगी।

"रोने से राज्य नहीं मिलते लता, भाग्य का भरोसा करके परीक्षा में बैठ जाओ।"

इस पर भी लता केवल आँसू बहाती रही। मिसेज पुरी उसके सम्मान पर चोट करती हुई पुनः बोली—"लता ! कालेज में तुम्हारे शान की दूसरी लड़की है नहीं। उस नाटक में तुम्हारे अभिनय पर अपने स्कूल के इन्सपेक्टर मोहनसिंह जी विभोर हो उठे थे। तुम्हें राधा के वेश में देखकर उनकी कविता जाग उठी थी। उन्होंने अपनी नोट-बुक में उसी समय अपने हृदय के उद्‌गारों को लिखा था—'वृन्दावन की कुंज-गलियों

में भगवान श्रीकृष्ण का बाँसुरी-वादन द्वारा शाश्वत संगीत का गुँजन। राधा का अल्हड़पन, उसका सात्विक प्यार, सबका प्रदर्शन।

कन्हैया यमुना के तट पर खड़ा है। उसकी आँखें प्रतीक्षा-रत हैं। इतने में राधा अपने सिर पर गागर उठाये तथा कन्हैया पर मादक निगाहें फेंकती हुई आई। सूरज डूबने वाला था। आकाश में हल्के-हल्के बादल तैर रहे थे। दूर तक फूलों के विभिन्न वृक्ष और हरियाली फैली हुई थी और उसके पीछे पर्वत की ऊँची-नीची श्रेणियाँ। इस पृष्ठभूमि पर गागर उठाये चलती राधा, उसके बड़े-बड़े कूल्हे, उसके प्यारे-प्यारे पाँव मन को मोह रहे थे।'—जानती हो लता, वे निहाल होकर झूम उठे थे।

'और चित्रकार क्रान्ति?···उस कलाकार की आत्मा को तुम्हारी धीमी-धीमी झूमती हुई चाल, माँसल तन, सुडौल उरोज और उस पर गागर की सुनहरी चमक प्रेरणा दे रहे थे'—पहाड़ और पक्षियों के चित्र व्यर्थ हैं, झूठे हैं। और एक नया रहस्य उसके मस्तिष्क में जाग्रत हुआ कि संसार के सौन्दर्य का प्रत्येक दृश्य मानव के बिना अपूर्ण है।' अपनी बातों का आपेक्षित प्रभाव पड़ता देखकर और भी बातें बढ़ा-चढ़ा कर वह बोली—

"मालूम है उसने मुझ से क्या कहा था—'अगर इस दृश्य से राधा हटा दी जाये तो क्या यह प्रकृति फीकी नहीं पड़ जायेगी?···और लता, उसकी तूलिका ने तुम्हारे रूप से नई प्रेरणा ली।'—एक गहरी आह छोड़ती हुई मिसेज पुरी बोली—"जब वही कलाकार तुम्हारी असफलता की चर्चा सुनेंगे तो एक बात उनके कलेजे में काँटे की तरह चुभ जायेगी—'इस खूबसूरत लड़की की बुद्धि तेज नहीं।···वह प्रतिभावान नहीं है। कितनी निराशा होगी उन्हें?"

"लेकिन मैं बहुत कोशिश करती हूँ प्रिन्सिपल साहिबा, पर यह मैथेमेटिक मेरे माथे में टिकती ही नहीं।"—भोली-भाली छात्रा ने अपना हृदय उघाड़ कर रख दिया।

"फिर तुम एक काम करो।"

"क्या ?"--उसकी आँखें हठात् उत्सुकता से चमक उठीं।

"पास तो तुम्हें मैं करा ही दूँगी पर बातें जरा छिपाने की हैं।"

"मुझे आप पास करा दीजिये, बस और मैं कुछ नहीं चाहती।" लता ने मिसेज पुरी के पाँव पकड़ लिये।

"तुम कल शाम को ठीक छः बजे मुझ से यहीं पर मिल लेना।"

"बहुत अच्छा !"—कहकर लता उठकर चलने लगी।

उसे रोकते हुए मिसेज पुरी बोलीं—"मगर एक बात का सदा ध्यान रखना कि बात बाहर न जाये।···कहीं और लड़कियाँ सिर पर सवार हो गईं तो······"

"बहुत अच्छा।"—लता चली गई।

दूसरे दिन लता ठीक छः बजे मिसेज पुरी के घर आई।

मिसेज पुरी नई साड़ी पहनकर पहले से ही तैयार थी।

लता को देखते ही बोली—"मैं तुम्हें उस जगह ले जा रही हूँ, जहाँ से 'पेपर' तुम्हें 'आउट' हो जायेंगे।"

लता ने भोलेपन से देखते हुए कहा—"चलिये।"

× × ×

हम दोनों ताँगे पर बैठकर गढ़ की ओर चले।"—कहती-कहती लता चुप हो गई। कन्हैयालाल जी ने आँखें तरेर कर कहा—"फिर चुप हो गई ?"

"कहती हूँ, बाबू जी कहती हूँ।"—लता ने उन्हें रोकते हुए कहा।

"सच-सच कहना।"

"हाँ ! बिलकुल सच-सच कहूँगी।"—और वह तमक कर बोली—"कहूँगी नहीं, मैं आप सबको यह नहीं बता सकती, मुझे शर्म आती है।"

जिस प्रकार बारूद को आग लग जाने पर वह आवाज करता है, उसी प्रकार क्रोध से फटते हुए कन्हैयालाल जी गरजे—"बुरा काम करते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई ! कमीनी कहीं की, बता नहीं तो···!"

"मैं लिख दूँगी, कहते हुए मुझे शर्म आती है।"—उसके स्वर में बहुत दर्दीली विनती थी।

"अच्छा लिख दो, हम बाहर बैठते हैं।"

सबके सब बाहर चले गये।

लता ने लिखना शुरू किया—

"हमारा ताँगा मान-निवास पहुँचा। मान-निवास के द्वार पर खड़ा पहरेदार मुझे देखकर मुस्कराया। उसकी मुस्कराहट कितनी भयानक थी! मैं रोमांचित होगई। मिसेज पुरी मुझे भाँति-भाँति की बातों से दिलासा देती जा रही थी—सारे रास्ते। ड्योढ़ीदार द्वारा मेरी प्रिन्सिपल साहिबा ने यह पता लगाया कि राजा साहब पधार गये हैं या नहीं?—तभी धनसिंह जी ने मान-निवास में प्रवेश किया। मुझे देखते ही वे सारा मामला समझ गये। भीतर जाकर वे अन्नदाता की खबर लाये। उन्होंने मिसेज-पुरी ने कहा—"वे आराम फरमा रहे हैं।"

"जाकर उनसे अर्ज कीजिये न कि आपकी सेवा में हम और मिसेज-पुरी हाजिर होना चाहते हैं।"—धनसिंह जी पुनः चले।

मैं उस कौतुक से अनजान अपनी मिसेज साहिबा को टुकुर-टुकुर देखने लगी। वह मेरे हृदय के आशय को ताड़ती हुई नाटक के पात्र की भाँति तनिक शब्दों को लम्बा करती हुई बोली—"देखो लता! अब तुम्हें देवता भी आकर 'फेल' नहीं कर सकते।"

मैं भी उसे अर्थ-भरी दृष्टि से देखती रही।……तब मैं धनसिंह जी की आज्ञा पर उस कमरे की ओर चली जहाँ राजा मानसिंह जी मसनद तकिये के सहारे पड़े-पड़े ऊँघ रहे थे। उनके पलँग के आगे चाँदी की एक गोल मेज पड़ी थी जिस पर शराब रखी हुई थी। उस शराब को राजा साहब बड़े इतमिनान से पी रहे थे। धनसिंह जी ने श्रद्धा से सिर झुकाते हुए कहा—"खम्मा अन्नदाता!"

"………।"—महाराजा ने इस अभिवादन का कोई उत्तर नहीं दिया बल्कि हमें हाथ से बैठने का संकेत किया। हम दोनों बैठ गये।

मेरी प्रिन्सिपल साहिबा बाहर खड़ी थीं, धनसिंह जी रुकते-रुकते बोले—"अन्नदाता ! यह लड़की पास होना चाहती है।"

"कौन ?"

"यह लड़की महाराजा !"

"तुम मेरे पास आओ और आग···!"—मेरे देखते-देखते दीवान धनसिंह जी बाहर चले गये।

तब अपने राजा जी के होंठ मुस्कराहट से खुले। उन होंठों के बीच रोशनी में राजा जी के चमकीले दाँत चमक उठे। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा। मेरा कलेजा दहल गया। राजा जी के होठों पर हँसी दौड़ गई। उस हँसी में जीवन नहीं था, एक जहर था। उन्होंने लपककर मेरा हाथ पकड़ा। मेरी रग-रग सिहर उठी। उन्होंने मुझ से पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है छोरी ?"

"स्वर्णलता।"

उनके चेहरे पर वासना-मिश्रित क्रूरता नाच उठी।

मैं घबरा गई थी।

"इधर आओ पलँग पर।"

मैं वहीं पर निश्चल खड़ी रही।

महाराजा ने डाँटकर कहा—"चलो, पलंग पर।"

मैं सिमटी-सिकुड़ी-डरती हुई उठी और पलँग पर जाकर बैठ गई। महाराजा मेरे पास आये। उनकी भूखी आँखें शायद देख रही थीं··मेरे भयभीय चेहरे को, उस पर छिटकी हुई बादलों-सी लटों को, मेरे तेज सौन्दर्य को, मेरी क्रोधित-हैरान बड़ी-बड़ी आँखों को।······मेरे सोने जैसे रंग को, मेरे गोरे मुख की अरुणिमा को जो ऊषा के उभरते हुए बादलों में होती है।

तब मैंने सिर झुका लिया।

राजा साहब ने शराब का एक घूँट पीकर मेरी बाँह को पकड़ा। मैं निर्विरोध रही लेकिन जब राजा जी ने मेरे गाल का चुम्बन लेना

चाहा तो मैं बाँह छुड़ाकर भाग पड़ी। महाराजा ने लपककर मुझे पुनः पकड़ लिया। इस बार उनकी बाँह सख्त थी। मैंने लाचारी से एक बार द्वार की ओर देखा, वहाँ केवल शून्यता थी, घोर शून्यता।

तब राजा साहब ने मुझे अपनी बाँहों में कसकर चूमना प्रारम्भ किया। एक नहीं कितनी ही बार उन्होंने मुझे चूमा होगा। चूमते-चूमते मेरे गाल जलने लगे। मैं छटपटाती रही पर कुछ कह नहीं सकी। अन्त में मेरे मुंह से चीख निकली, फिर सिसकी और फिर मेरी आँखों के आगे अन्धेरा छा गया—अन्धेरा।

जब मुझे चेतना लौटी तो मेरे समक्ष एक नर्स खड़ी थी।

यह कमरा शहर से दूर वीराने में था। बाद में मुझे मालूम पड़ा कि यह धनसिंह जी का नया घर है।

पूर्ण चेतना के लौटने के साथ मैंने अपने आपको संभाला। मेरा बदन टूट रहा था। नस-नस में पीड़ा समाई हुई थी।

धनसिंह जी और मेरी प्रिन्सिपल साहिबा ने उस कमरे में जब प्रवेश किया तब नर्स चली गई थी।

दीवान जी ने कहा—"तुम तो खामखा घबरा गई, राजा जी तुम्हारे प्राण थोड़े ही ले लेते···अब तुम जरूर······।"

प्रिन्सिपल साहिबा ने इस बात के समर्थन में कहा—"अब तुम बेफिक्र रहो, स्वयं ब्रह्मा भी तुम्हें 'फेल' नहीं कर सकता।"

मैं क्रोध से तिलमिला कर रह गई।

जब तक परीक्षा नहीं हुई तब तक मेरी प्रिन्सिपल साहिबा मुझे भाँति-भाँति की धमकियाँ और प्रलोभन दे-देकर राजा साहब के पास कई बार लेकर गई।

इस बीच मुझे यह रहस्य भी जान पड़ा कि मेरी गुरुआनी प्रिन्सिपल साहिबा केवल मुझे ही नहीं, मेरी जैसी कितनी लड़कियों को भ्रष्ट करा चुकी है।"

अपनी कहानी लिखकर लता ने अपने पिता को देने के लिये दरवाजे

के नीचे से उसे बाहर कर दिया। कन्हैयालाल जी ने झपट कर उसे अपने कब्जे में कर लिया।

एक कोने में खिसक कर उन्होंने पढ़ा। पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखों में खून उतर आया। आँखों से चिनगारियाँ बरस पड़ीं।···पर उन्होंने बहुत ही बुद्धिमानी से काम लिया। वे बिलकुल चुप हो गये। जूते पहन कर वे बाहर की ओर निकले कि सामने एस. पी. साहब दौलतसिंह जी की मोटर आकर खड़ी हुई। ड्राइवर ने कन्हैयालाल जी से पूछा---"कन्हैयालाल जी का मकान क्या यही है?"

"क्यों? आप कहाँ से आये हैं?—चिढ़ते हुए कन्हैयालाल जी बोले।

"मैं एस. पी. साहब के डेरे से आया हूँ, उन्होंने कन्हैयालाल जी को इसी समय बुलाया है। कहा है कि यदि वे न आयें तो बड़े अनर्थ की संभावना है।"

कन्हैयालाल जी कुछ देर तक विचारते रहे। बाद में मोटर पर बैठ कर चलते बने।

दौलतसिंह अपने डेरे पर खड़े-खड़े आकुलता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

उन्हें देखते ही वे बोले—"आइये कन्हैयालाल जी, आप भीतर विराजिये, मैं अभी आया।"

एक नौकर ने कन्हैयालाल जी को एस. पी. साहब के बताये हुए कमरे में बिठाया। सिगरेट का कस खींचते हुए दौलतसिंह जी ने अपने कमरे में प्रवेश किया। उनके चेहरे पर चेचक के मामूली दाग थे।

उनके बैठते ही कन्हैयालाल जी ने कहा— "ठाकुर सा! यह कहाँ का न्याय है? देखिये मेरी बेटी की इज्जत आपकी छत्रछाया में किस प्रकार लूटी गई है? और वह भी राजा जी के हाथों!"

"मैंने सब कुछ पता लगा लिया है लेकिन जरा आप मुझे पूरा किस्सा समझाइये ताकि बात को सुलझाने में आसानी हो सके।"—अपनी मुट्ठी

को बन्द करके पुनः खोलते हुए दौलतसिंह जी बोले ।

कन्हैयालाल जी ने 'क' से लेकर 'ज्ञ' तक की कहानी सुनादी और अपना अन्तिम वाक्य समाप्त करते हुए बोले—"यह कोई बात है एस. पी. साहब, हमारे राजाओं ने ये स्कूल अच्छी लड़कियाँ बनाने के लिए खोले थे, या अड्डेबाजी करने ? मैं जरूर इसके खिलाफ कठोर कदम उठाऊँगा, केवल अदालत का दरवाजा नहीं, जनता का दरवाजा भी खटखटाऊँगा, स्वामी रामदास जी को जाकर कहूँगा कि यह कितना अमानुषिक अत्याचार है, इसके विरुद्ध जरूर आन्दोलन होना चाहिये, जन-आन्दोलन ! ···एस. पी. साहब ! मेरा कलेजा फटा जा रहा है, आप सोचिये, ऐसी हालत में एक पिता की क्या दशा हो सकती है ?"—कन्हैयालाल जी ताव में आ गये । उन्हें धैर्य देते हुए एस. पी. साहब बोले—"धैर्य खोने से कोई काम बनने का नहीं ।···जो मकान ढह गया है, उस पर लीपा-पोती करने से कुछ नहीं होगा, अब हम सब को सोचना यह है कि किया क्या जाय ?"

"मैं कहता हूँ—यही किया जाय कि इन सब पापियों की अक्ल ठिकाने आ जाय ?"—अपने हाथ को जोर से हिलाते हुए कन्हैयालाल जी बोले ।

"देखिये कन्हैयालाल जी, सिर्फ जोर-जोर से चीखने से समस्या सुलझेगी नहीं, अधिक बोलकर तो आप बात का बतंगड़ बना देंगे । मैं जो कहता हूँ, उस पर ध्यान दीजिये । यदि मेरी बात अच्छी लगे तो मानिये अन्यथा आपके मन में जो आये, वह हँसी-खुशी कीजिये ।"

इस कथन पर कन्हैयालाल जी चुप होकर बैठ गये । एस. पी साहब अपने चेहरे पर हाथ मलते हुए बोले—"जो होना था कन्हैयालाल जी, वह तो हो ही गया । अब इस बात को आप फैलायेंगे अथवा उसका मामला चलायेंगे तो इसमें आपकी और सबकी बेइज्जती ही होगी ।·········जरा समझ से काम लीजिये, यदि आपका समाज यह जान जायेगा कि स्वर्णलता को गर्भ रह चुका है तो क्या आप कह

सकते हैं कि उसे कोई लड़का ब्याहने को तैयार हो जायेगा ?" आप क्रोध में अपनी लड़की की जिन्दगी खराब कर देंगे ?"

"……।"—कन्हैयालाल जी बीच में बोलने को उद्यत हुए कि एस. पी. साहब ने उन्हें रोका—"पहले आप मुझे कहने दीजिये या आप अपनी सुना दीजिए।"

"अच्छा, आप ही कहिये।"

"हाँ, मैं कह रहा था कि इससे आपकी बेटी की जिन्दगी नरक हो जायेगी। समझे ?……अब आप यह कहेंगे कि मैं केस कर दूँगा। केस प्रमाण माँगता है, गवाह माँगता है ! क्या कोई इस धरती पर ऐसा 'लाल' पैदा भी हुआ है जो राजघराने के खिलाफ गवाही दे ?……राजपूत उसे जान से मारकर उसकी लाश को बासने तक न देंगे क्योंकि वे राजसत्ता के स्वामी हैं। ·· इसलिए मेरा विचार है कि आप शान्ति से इस बात पर विचारिये, उतावली करने की कोई जरूरत नहीं। रही जन-आन्दोलन की बात, उसे होते बहुत देरी है।"

कन्हैयालाल जी के ललाट पर पसीना आ गया था। उसे अपने रूमाल से पोंछते हुये वे झल्लाये हुये स्वर में बोले—"पर एस. पी. साहब, आप भी क्षत्री के बेटे हैं, हृदय पर हाथ रखकर कहिये मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया गया है ?"—कहते-कहते उस निरीह बाप की आँखों में खून से भरे आँसू छलछला आये। बेटी के बाप का वेदना भरा कलेजा इस असह्य अत्याचार के आघात से हाहाकार कर उठा। बेटी के अन्धकारमय भविष्य, समाज की प्रतारणा, उसका पीड़ा-मय उपेक्षित जीवन, दर-दर की ठोकरें, ये सब याद कर कन्हैयालाल जी ने रोते-रोते दौलतसिंह जी के पाँव पकड़ लिए। रोदन भरे स्वर में बोले—"मेरी इज्जत आपके पाँवों में है एस. पी. साहब ! मैं क्या करूँ ? मुझे तो कुछ सूझता नहीं।"

"आप चिंता मत कीजिये कन्हैयालाल जी।"—उन्हें उठाते हुये एस. पी. दौलतसिंह जी ढाढ़स भरे स्वर में बोले—"मैं ऐसा प्रबन्ध

कर दूँगा कि साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे यानी आपकी इज्जत भी बच जाये और आपको कोई हानि भी न हो।"

"जैसी आपकी मर्जी।"

"तो आप मुझसे दो दिन बाद मिलियेगा, पर आप अब एक बात का ध्यान रखियेगा कि बात बाहर न जाय।"

"ठीक है।"—परिस्थितियों के सामने कन्हैयालाल जी पराजित हो गये।

तीसरे दिन वे पुनः आये।

एस. पी. साहब उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। कन्हैयालाल जी को देखते ही वे गम्भीर हो गये। उन्हें अपने साथ कमरे में लाकर बोले—"मैंने सब तय कर लिया है।"

"क्या तय कर लिया है?"

"मैं दीवान जी से मिला था। पहले तो मैंने उनके माथे पर मुट्ठियाँ भर-भरकर धूल डाली। उन्हें कुत्ते की तरह झिड़का, लाख भला-बुरा कहा।"—कहकर एस. पी. साहब ने ऐसा भाव बनाया जैसे वे वास्तव में दीवान जी को डाँट रहे हैं—"ऐसी-ऐसी बातें सुनाई कि उनकी गैरत रो उठी। मुझे हाथ जोड़कर कहा कि मैं कन्हैयालाल जी से इस अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ। यह उस राँड पुरी का काम है, मुझे कुछ पता नहीं।"

"तब मैंने उन्हें कहा कि यह मैं जानता हूँ पर इस अत्याचार से कन्हैयालाल जी को बहुत बड़ा सदमा पहुँचा है। बड़ा भारी नुकसान हुआ है, इसका हर्जाना भी आपको ही देना पड़ेगा।" वे बोले—"मैं तैयार हूँ एस. पी. साहब!"

"तो सुनिये।"—मैंने कहना शुरू किया—"उनकी बेटी के पेट में बच्चा है, तीन माह का, उसको गिराने का पूरा खर्चा, उसका आस-पास की अस्पताल में प्रबन्ध, दस हजार रुपया नकद।.........बोलिए आपको यह मंजूर है?"

"दीवान जी मेरी पक्षपात-पूर्ण बात पर एक पल हैरान होकर बोले—"यह तो हद से अधिक है एस. पी. साहब !"

"यह आप व्यापारिक बात करने लगे हैं दीवान जी। किसी की इज़्ज़त की कीमत इतनी थोड़ी रकम नहीं होती। यह तो मेरी प्रार्थना पर आपको श्री कन्हैयालाल जी रियायत दे रहे हैं।"

उन्होंने गर्दन हिलाकर मेरी बात को माना। अब आप बताइये मैंने आपकी हार का सौदा तो तय नहीं किया है ?"

"……।"—कन्हैयालाल जी निर्बुद्धि की भाँति अनिमेष दृष्टि से एस. पी. साहब की चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर देखते रहे। उनकी दशा उस माँझी की भाँति थी जो मँझधार में फँस चुका है; जिसे अब यदि सहारा है तो एक तूफान का। अब तो दूसरी ओर से आनेवाला तूफान ही उसकी जिन्दगी का रखवाला बन सकता है।

"नहीं, पर यह बात छिपी कैसे रह सकती है ?"

"उसके लिए मैंने प्रबन्ध कर लिया है। आप किसी पहाड़ पर यानी शिमले चले जाइये। वहाँ का खर्चा भी मैं आपको दीवान जी से दिला दूँगा। राजा जी से एक पत्र लिखवा दूँगा सुनामा के नाम पर, जो उनकी मित्र है और आजकल वहीं है; वह स्वर्णलता का हमल गिरा देगी।"

"यह ठीक है"—कन्हैयालाल जी ने मन-ही-मन सोचा कि इससे हमारी इज़्ज़त तो बच जायगी।

"फिर आप तैयार हो जाइये, मैं कल रुपये लेकर तैयार रहूंगा। आप मुझे पाँच बजे मिल लीजियेगा।"

जाते-जाते कन्हैयालाल जी ने हाथ जोड़कर एस. पी. साहब से निवेदन किया—"और उस बेहया, दुश्चरित्रा मिसेज पुरी को आप क्या दंड दिलवायेंगे ?"

एस. पी. साहब मुट्ठियाँ बन्द करके बोले—"देश निकाला।"

घर जाकर कन्हैयालाल जी ने अपनी पत्नी को कल की यात्रा की तैयारी करने को कहा।

दूसरे दिन कन्हैयालाल जी और स्वर्णलता रेल पर सवार होकर शिमले को रवाना हो गये।

मिसेज पुरी और मिस्टर पुरी के बिस्तरे भी गोल करा दिये गये। उनके पाप का घड़ा सारे शहर में फूट चुका था।

दीवान जी के बारे में जितने मुँह थे उतनी बातें होने लगीं। किसी-किसी ने तो यहाँ तक कहा कि ठाकुर धर्नसिंह जी की दीवानगी लड़कियों की सप्लाई पर ही निर्भर करती है। जनता में उनके विरुद्ध विद्रोह पल रहा था।

पर राजपूतों के निरंकुश राज्य में उनकी निंदा उनके मुँह पर नहीं की जाती थी, पीठ के पीछे उनकी निंदा के गीत प्रायः गाये ही जाते थे।

आग को बढ़ने दो

धरती पर, नीले नभ पर धूम-मिश्रित धुँध का गहरा परदा छाने लगा था। गढ़ की हल्की खाकी रंग की चहारदीवारी के बुर्जों, लाल पत्थरों के कंगूरों, गढ़ के दास और दासियों की कोठरियों पर नन्हीं-नन्हीं बूँदों की हल्की-हल्की बौछार हो रही थी।

साँझ का मटमैला समय था।

फागा धरती के कोने पर स्थित अपनी कोठड़ी में अन्यमनस्क-सी खड़ी थी। उसके आगे गढ़ के दानवों की पौराणिक दैत्यों की भाँति गूँजती हुई आवाजें, आज्ञायें और अत्याचार नाच रहे थे।

इस गढ़ की दीवारों में उसका जीवन क्रूर परिश्रम के पंजे में जकड़ा, संगीत और रस रहित, अंधियाले और मुरझाये क्षणों के विरुद्ध आजादी की पुकार करता रहता था, यहाँ उसकी छोटी से छोटी भावना अपनी तृप्ति के लिये कराहती रहती थी, तड़पती रहती थी, चिल्लाती रहती थी, जहाँ निर्मम राक्षसी अत्याचार, उकता देने वाला वातावरण, घुटा देने वाली सड़ान्ध उसे मुक्त होने का आह्वान सुनाया करती थी। वहाँ वह असहाय-सी पड़ी जिन्दगी का कारवाँ तलवारों के साये में व्यतीत करती जा रही थी।

हर रोज उसे नया जुल्म थपथपाया करता था, अपनी धमकियों से सहलाया करता था और यही कारण था कि वह कल की अपेक्षा आज अधिक विद्रोहिणी बनती जा रही थी।

गढ़ की तथा राज्य की वह हर बात जिससे राजवंश पर कलंक लगने की आशंका होती थी, उसे वह घंटों में सर्वत्र फैला देती थी। यह उसके विद्रोही हृदय के प्रथम लक्षण थे।

आज वह बूँदों की चिंता किये बिना सुजानसिंह की प्रतीक्षा कर रही थी। उसका हृदय उस रहस्य की सत्यता को जानने के लिए कितने ही दिनों से व्याकुल था जिसका हल्का-सा आभास आज उसे प्राप्त हुआ था कि महारानी सा को गर्भ है। यह भी सत्य है कि राजा मानसिंह जी अभी एक साल से रावले में गये भी नहीं थे।

यह गर्भ सुजानसिंह का है, उसके अपने बिरादर का, एक अदने दास का, एक ना-कुछ आदमी का, तो यह सोचकर वह गर्व से फूली नहीं समाती थी।

उसकी तपती हुई आँखें मानो कह रही थीं—'दासियों के हजारों बेटे उनके अपने पतियों से न होकर, राजा-महाराजाओं से हुए हैं। वे बच्चे जो केवल अपनी माँ की प्रामाणिकता लिए, रक्त-गौरव को भूलकर कीड़े-मकोड़े की तरह अपनी जिन्दगी बसर कर देते हैं, अभिशप्त जीवन को वरदान समझ कर अपनाते हैं और मर जाते हैं। उस खून का एक

लड़का रानी के पेट से उत्पन्न हो जाय तो इतिहास नई करवट ले लेगा।''''''शास्त्रों ने कहा है कि खून खून को नहीं भूलता, खून अपने खून से जरूर लगाव रखता है। मैं समझती हूँ कि हमारी यह सन्तान हमारे दुखों को जरूर समाप्त करेगी।

तभी एक प्रश्न उसके मस्तिष्क में उठा। वह जड़ हो गई। उसे डर लगा कि कहीं सुजान इस सत्य को अस्वीकार न कर दे। उसे अत्याचार ने डरपोक बना दिया है। उसमें लड़ने की हिम्मत नहीं है। वह कह देगा कि यह गर्भ मेरा नहीं है। पर'''?' वह बिलकुल गंभीर हो गई "पर मैं उसे अस्वीकार करने नहीं दूँगी।"

वह आकुलता से सुजान की प्रतीक्षा करने लगी।

सुजान ने जब उसकी कोठड़ी में प्रवेश किया तब उसका बदन पसीने से तर-बतर था। आवाज में कम्पन और चेहरे की हवाइयाँ उड़ी हुई थीं।

वह पसीने को पोंछता हुआ धीमे स्वर में बोला, "फागा !"

फागा जानती थी कि वह क्या कहना चाहता है अतः उपेक्षा से बोली, "क्या है ?"

"कुछ सुना ?"

"नहीं तो ?"

"महारानी सा को गर्भ है ?"

"क्या बनते हो ?"

"सच कहता हूँ।"

फागा मुस्करा पड़ी, "जाओ, महाराज श्री से बधाई लेकर आओ।"

"बधाई !" सुजान के नेत्र विस्फारित हो गये।

"अरे, यह खुशी की खबर है, जो पहले पहुँचेगा, वही इनाम लायेगा।"

"पर'''?" वह कहता-कहता चुप हो गया। अज्ञात भय उसकी आँखों में सजीव हो उठा।

"पर क्या ?"

"लोग कहते हैं···?" वह फिर चुप हो गया।

"क्या कहते हैं लोग ?" झल्ला पड़ी फागा।

वह डरते-डरते बोला, "लोग कहते हैं कि महाराजा अभी रावले में गये ही नहीं।"

"फिर बकने लगे।" उसने डांटा।

"नहीं फागा, सच कहता हूँ, और···।" उसने थूक निगल कर बड़ी मुश्किल से कहा, "और लोग यह भी कहते हैं कि यह कुकर्म मेरा है। पर मैं···।"

"घबराता क्यों है ? हमारा बदला तूने ही लिया। तूने आज सभी गुलामों का सिर ऊँचा कर दिया।···मैं जरा रूपली के पास जाती हूँ।" कहकर फागा ने अपनी ओढ़नी को सिर पर डाला।

"फागा !" सुजान ने उसका हाथ पकड़ा।

"क्या है ?" बड़प्पन जताते हुए फागा बोली।

"फागा, मैं धर्म की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं ने रानी सा को छूआ तक नहीं है। लोग मुझे फिजूल ही बदनाम करते हैं।"

"मौत से डरता है।" उसने तपे स्वर में कहा, "चाकर को मौत से नहीं घबराना चाहिये, मौत ही उसकी आजादी है और जिन्दगी मौत। ···सुजान ! यदि तूने ऐसा नहीं किया है, फिर भी डंके की चोट कह कि यह पाप मेरा है, यह पाप मेरा है।"

"तू बावली हो गई, तेरा चित्त ठिकाने नहीं है। तू चुप रह, तू एक हरुफ भी मत बोल।"

"मैं बोलूँगी और जरूर बोलूँगी, यहाँ की कोई ताकत मेरी जबान को बन्द नहीं कर सकती। सुजान !" फागा की रक्तिम आँखों में ममता के गहरे डोरे चमक उठे। विगलित स्वर में बोली, "तू मौत से डरता है ? पगले ! तू अगर अपने आप को जिंदा समझता है तो बड़ी भारी

गलती कर रहा है। हिम्मत रख और चीख-चीख कर कह, "मैं इस पाप का बाप हूँ।"

"मुझे जिंदा जला देंगे।" वह सिसक पड़ा।

"जल जाना पर जबान को बन्द न करना।" फागा विनीत हो गई, "तू मरकर एक बात इस गढ़ के परकोटे (चहारदीवारी) में छोड़ जायगा कि रानी के होने वाले बच्चे का बाप सुजान था, एक दास था, एक अदना आदमी था!"

फागा तीर की तरह निकल गई।

सुजान जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गई तब तक विमूढ़ सा बैठा रहा। न उसमें उठने की शक्ति थी और न उसमें सोने की। चंद क्षण तक वही जड़ता और अस्थिरता!

वह फफक पड़ा। दिल हलका हुआ। विचारने लगा, 'राणी सा ने यह क्या कर लिया? आखिर उन्होंने अपनी जिद्द पूरी कर ही ली। मगर किससे? होगा कोई हमारे जैसा ही! पर लोग मेरा नाम क्यों लेते हैं?

मेरा नाम!

हां, मेरा नाम!!

उफ्!!!

उसने अपना सिर पकड़ लिया। वह सिहर उठा।

यदि असली अपराधी का पता नहीं लगा तो क्या मुझे?···नहीं ऐसा कैसे हो सकता है। मैं रानी सा को माँ···माँ···माँ कहता हूँ। मुझे ऐसा दंड क्यों दिया जायेगा?'

सुजान वहाँ से बेतहाशा भागा और अपनी कोठड़ी में आकर कटे पतंग की तरह गिर गया। आँखों के आगे अंधेरा छा गया। कानों में रानी के शब्द गूंज उठे, 'देखो, मैं तुम्हें जान से मरवा दूंगी।'

'जान से।' सुजान का शरीर पसीना-पसीना हो गया। वह अपने

आप चिल्ला उठा, 'मैं बेकसूर हूँ, बेकसूर हूँ।' और वह सिसक पड़ा। उसके आगे घोर अँधेरा छा गया।

गढ़ से बाहर निकलती हुई फागा से पहरेदार ने पूछा, "कहाँ जा रही हो फागा ?"

फागा ने मुँह बिचकाते हुए कहा, "रूपली पासवान के यहाँ।"

रूपली को अमरसिंह की मृत्यु के बाद अलग मकान दे दिया गया था। आजकल उसके ढंग ठीक नहीं थे। वह हर परिचित से कहा करती थी, "खुद मर गया और मुझे दो रोटी के टुकड़ों पर छोड़ गया। बड़ा कायर था।" और वह अपने पल्लू से आँखें पोंछ लेती थी।

वास्तविकता यह थी कि उसने अमरसिंह के पीछे वैधव्य धारण कर लिया था। काले और सफेद कपड़ों के अलावा वह कुछ नहीं पहनती थी। दिन के उजाले में बाहर नहीं निकलती थी। इससे उसकी इज़्ज़त अन्य दासियों से अधिक बढ़ गई थी।

फागा उसके पास दौड़ी-दौड़ी पहुँची।

रूपली जानती थी कि जब बिना बुलाये फागा आती है तब कोई न कोई नई खबर जरूर लाती है।

"बैठो फागा !"

"क्या बैठू रूपली ? तू काला पहनकर निश्चित हो गई और अभाग (बुरा) हमारा है।"

"अरी हुआ क्या ?'

"ऐसा हुआ है जैसा आज तक नहीं हुआ।"

"नई खबर लाई हो !"

"बड़ी जोरदार खबर लाई हूँ।"

"क्या ?"

"महारानी सा को गर्भ रह गया है।"

"बात जरूर नई है।" रूपली ने मुस्कराकर कहा जैसे यह बात कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है।

"पर गर्भ कैसे और किससे रहा है, पहले तू यह पूछ ?" फागा ने नयन मटका कर कहा।

"अरी तू ही बतादे।"

"ना, बाबा ना !"

"क्यों ?"

"कहीं तू हाथों-हाथ सौदा करदे तो ?"

"मेरा भरोसा नहीं है ?"

"है, पर बात पेट में पचाकर रखने की है, ढोल पीटने की नहीं। वैसे तू कहेगी तो मेरा क्या कर लेगी ? सारे शहर की बदनामी है। रजवाड़े की नाक कट जायेगी।"

"ऐ मेरी दादी, अटरम्-सटरम् करती रहेगी या बात बतायेगी। कहनी होगी तो कहूँगी और नहीं कहनी होगी तो उफ तक नहीं करूँगी, विश्वास रख।"

फागा ने लम्बे स्वर में कहा, "महाराजा श्री एक साल से रावले में नहा गये हैं।"

रूपली पर जैसे वज्र गिर गया। हठात् बोली, "क्या बकती है, तेरी खोपड़ी तो ठीक है ?"

फागा शांत हो गई, "तभी कहा था कि बात पेट में पचाकर रखने की है। ढोल पीटने की नहीं। तू अच्छी तरह जानती है रूपली कि राजा जी इधर-उधर भटकते रहते हैं तब बेचारी रानी सा क्या करती ? उसने अपने सुजान से......?"

रूपली की आँखें फटी की फटी रह गईं। अपने स्वर में विस्मय भरती हुई बोली, "ऐसा अन्धेर आज तक नहीं हुआ ?"

"रूपली, दूर के ढोल सुहावने लगते हैं। पाप जब तक छिपा रहता है तब तक धर्म का ढोंग भी चलता रहता है। लेकिन जब वह प्रकट होता है तब जानने वालों के मनों में नफरत पैदा कर देता है।

ये रानियाँ सदा से ऐसा पाप करती आई हैं पर हम उस पाप को जानकर भी आँख बन्द कर लेते हैं। फिर बहिन, कौन किसी के दिल में छुप कर बैठा है, दिल की जानने वाला एक ईश्वर ही है।"

"पर इसका नतीजा बड़ा बुरा निकलेगा। मैं समझती हूँ कि महाराजा रानी को जान से मार डालेंगे।"

"मार दिया री मार दिया! व्यंग कसा फागा ने, "मारना सहज नहीं है और एक बात और भी तो है कि नई बात नौ दिन, खींची-तानी तेरह दिन। जरा तू ही सोच न, क्या सुजान इस बात को स्वीकार करेगा?"

"नहीं।"

"फिर कुछ नहीं होगा।"

"जरूर होगा।"

"शर्त लगाती हो?"

"हाँ।"

"महाराजा श्री कुछ करदे तब मैं तेरी सदा चाकर रहूँगी। हाँ मैं इसकी जिम्मेवार नहीं हूँ कि रानी सा ग्लानि में भरकर आत्महत्या करले।"

"छोड़ इस पचड़े (बकवास) को। तू कैसी है?"

"बस जी रही हूँ।"

"मेरी भी यही आशीष है कि तू जी।"

फागा ने उठते हुए कहा, "एक बात का ध्यान रखना।"

"क्या?"

"बात बाहर नहीं जानी चाहिए।"

रूपली जोर से हँस पड़ी। रुकी और फिर मुस्कराते हुए बोली, "तू चाहती है कि मैं इस बात को खूब फैलाऊँ। लोग इस बात को जानें और कहें कि रजपूताई चली गई।"

फागा कुछ भी नहीं बोली।

रूपली ने कहा, "फागा, तुझ में आग है, लपकती हुई आग, पवित्र आग, तू जरूर जीतेगी।"

फागा चली गई।

बरसात थम चुकी थी।

अपराधी मिल गया

दूसरे ही दिन राजराजेश्वर महाराजा श्री मानसिंह जी के कानों में यह खबर पहुँची। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि जैसे किसी ने उनके कान में खौलता हुआ गर्म तेल डाल दिया हो।

उन्होंने दीवान जी को बुलवाकर इस बात की कड़ी आज्ञा दी कि उस नमक-हराम गोले का पता लगाकर जिंदा शेर के पिंजरे में डलवा दिया जाय। ख्याल रहे कि बात दूसरे कान तक न जाय कि गोले को क्यों दंड दिया जा रहा है?

फागा की लगाई आग ने अपना भीषण रूप धारण करना प्रारम्भ किया।

राजराजेश्वर की आज्ञा का शीघ्र पालन किया गया।

अपराधी का पता लगा लिया गया।

लाखोजी का धोरा

निशीथ का शांत पहर !

नीलाम्बर में झिलमिलाते तारे।

हल्के-हल्के शीतल बयार के झोंके और क्षितिज के अदृश्य अधरों पर भयानक कालिमा।

रावले में महाराजा मानसिंह विकलता से अपने मखमली बिस्तरे पर करवटें बदल रहे थे। पल भर के लिये भी उन्हें कल नहीं पड़ रहा था। बार-बार वे अपने मुँह को तकियों में छुपाकर विचारों के तारतम्य को तोड़ना चाहते थे पर विचार धरती के गर्भ में छिपे ज्वालामुखी की तरह भड़ककर उनके मस्तिष्क को विचलित कर रहे थे। अन्तर्द्वन्द्व की गहरी और गंभीर रेखायें उनके चेहरे पर लक्षित हो रही थीं। मुख की विकृति और ललाट की मिटती-बनती सलवटें आन्तरिक बेचैनी को स्पष्ट बता रहीं थीं। वे अपने आपको कोस रहे थे, फटकार रहे थे और उस पाप की ज्वाला में जल रहे थे जिसका प्रायश्चित्त किसी भयंकर परिणाम से टकराने वाला था।

उनके समीप महारानी सोई हुई थी।

महाराजा क्षण भर के लिए भी उस ओर अपनी दृष्टि नहीं फेंक पा रहे थे। ऐसा लग रहा था कि रानी के जिस्म से लिपटा पाप का विषाक्त साँप अपने विष से महाराजा को अंधा कर देगा।

रानी ने करवट बदली। उसका पेट फूला हुआ था। उसमें नया इन्सान पल रहा था। नारी और नर के महामिलन का पावन प्रतीक !

निद्रा में रानी सुबकियाँ भर रही थी। ये सुबकियाँ मानो कह रही थीं—सौन्दर्य की आग प्रकृति के हल्के प्रकोप से ठंडी हो जाती है पर आत्मिक आग आत्मिक आग से ही ठंडी होती है। नारी के अंतराल का पिपासित हृदय, अतृप्त लालसा, तृष्णा की लपट युगों से माँग करती

आ रही है और इसकी अतृप्ति ही विक्षोभ, क्रोध और प्रतिशोध को जन्म देती है। फिर भी लोग कहते हैं कि नारी पतन है, दुर्बलता है, पापिन है। क्यों ? क्योंकि धरित्री में बीज न डाल कर उसे ऊसर कहना कहाँ तक न्याय-संगत है ? सावन का अमृत पीकर तृष्णामयी धरित्री कब नया जन्म नहीं देती ?

पर इस गढ़ में—

तृष्णा की अटूट लपट उठती है, बढ़ती है और औचित्य से न टकरा-कर जघन्य संज्ञा लेकर शांत हो जाती है।

महाराजा उद्विग्न थे।

साहस करके रानी की ओर देखा—उज्ज्वल मुख, शालीनता का प्रकाश और मुबकियों से भरे अधर।

महाराजा के मुख पर घृणा साकार हो उठी। उन्हें ऐसा लगा जैसे उनके मन में घुमड़ने वाली घृणा उनका दम घोंट देगी।

उन्होंने लपक कर रोशनी बुझा दी।

अन्धेरा !

घोर अन्धकार !

उस अन्धकार में महाराजा को अपरिसीम शांति मिली और मिला क्षणिक सुख ! महाराजा ने सोचा कि यह रानी कितनी पतित और कलंकिनी है। इसे हमारे गौरव और हमारी मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहा। नारी की शाश्वत माँग हमारे मान से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

ओह पापिन !

महाराजा गुस्से में भर उठे।

आँखें बन्द कीं तो अन्धेरा भूत की शक्ल में बदल गया। रजवाड़ों की आन दहाड़-दहाड़कर कह उठी, 'इसकी गर्दन अलग करदे ताकि यह पाप पनपे ही नहीं।'

मानसिंह ने चाहा कि अपने फौलादी हाथों से इस कलंकिनी का काम

तमाम कर दे। वे आगे बढ़े। घृणा में डूबी समस्त अनुभूतियाँ कह रही थीं, 'मारदे, मैं कहता हूँ, मारदे।'

राजा मानसिंह और आगे बढ़े।

दीवारें खिलखिला कर हँस पड़ीं।

मानसिंह ठिठक पड़े। रुक गये।

प्रकाश की तरह उनका ज्ञान हौले-हौले बोला, 'ऐसा करोगे तो पछताओगे ?'

'क्यों ?'

'पाप आतंक से सहलाया नहीं जाता।'

'फिर ?'

विवेक बोला, 'पाप को धर्म से छुपाओ।'

'कैसे ?'

'पाप की जुबान बन्द कर दो। उसकी जुबान को काट दो, उसे गूँगा कर दो।'

मानसिंह आश्वस्त होते हुए बड़बड़ाये, 'पाप की जबान को काट दूँगा, उसे गूँगा कर दूँगा।'

वे हार कर बैठ गये।

आकाश से एक तारा न जाने क्यों टूट पड़ा ? महाराजा उसे देखकर आशंका से तड़प उठे।

राजा मानसिंह जी को ऐसे तर्कों से कुछ सन्तोष हो रहा था। उनका बोझिल हृदय हल्का हुआ। उन्होंने तय किया कि यदि इस चर्चा को अगर कोई जबान पर लायेगा, उसे कठोर से कठोर दंड दिया जायेगा। उन्होंने गुप्त रूप से यह आज्ञा जारी करने का निश्चय किया।

सदा जगमगाते प्रकाश में रहने वाले राजा मानसिंह जी को अन्धेरा घुटाने लगा। उनकी तबियत मितलाने लगी। पर वे प्रकाश में रानी मा का कलंकित चेहरा देखने को तैयार नहीं थे। राजसी रक्त में ऐसा दौर्बल्य होगा ? इसका उन्हें आभास ही नहीं था। पर उन्हें पुनः याद

आया—'लाखोजी रो धोरो'* और उसकी गाथा। प्रणय में अनुभूति की स्मृति को विस्मृत करने वाला वह भावुक राजा और उसका सिंधु देश की राजकुमारी से अटूट प्यार।

राजा मानसिंह जी सावधान हो गये। उनके कान खड़े हो गये जैसे उन्हें सुनाई पड़ रहा है—'बजाओ गायक अपनी वीणा को और गाते जाओ तब तक, जब तक मैं बेसुध होकर तुम्हारे संगीत की मादक लय में खो न जाऊँ!'......संगीत बजता गया। स्वर मधुर से मधुरतम होकर रानी के कानों में रस घोलने लगा। रानी बेहोश-सी हो गई। राजा की अनुपस्थिति में वह अपने अन्तर के तूफान को थाम न सकी। वासना अपनी उत्तेजना के अनुकूल वातावरण और पदार्थ पाकर अंधी हो गई। रानी अपने आपको समर्पण कर चुकी। वह उसके मोहक स्वरों में अपना अस्तित्व मिटाकर काँपने लगी।

रात का मादक समय था।

नीले नभ चँदोवे में बादलों के छोटे-छोटे टुकड़े पैबन्द से चिपके थे।

दुर्ग के प्रकोष्ठ में गायक के तन से रानी लता-सी लिपटी मग्न थी।

शिकार से उसका पति राजा लखपत लौटा। अपनी अनुपस्थिति में अपने दुर्ग में दीपक जलता देख उसके मस्तिष्क में भाँति-भाँति की शंकायें उठीं।......पर उसे सन्तोषप्रद समाधान प्राप्त नहीं हुआ। शंकाओं से उसका विचलित मन उद्विग्न हो उठा। उसने अश्व को और तेज भगाया। अश्व हवा से बातें करने लगा।

*राजस्थान के बीकानेर शहर से ११७ मील दूर स्थित 'रंगमहल' ग्राम में—जो कभी एक छोटे से राज्य के रूप में आबाद था—आज भी 'लाखोजी रो धोरो' के नाम से प्रसिद्ध एक ऊँचा रेत का टीबा है जो 'लखपत' की स्मृति को अमर बनाये हुए है।—साभी लेखक दीपसिंह बड़गूजर की कहानी संग्रह 'न्याय' से।

दुर्ग का दरवाजा बन्द था। प्रहरी ने राजा से नम्र निवेदन किया कि ताले की चाबी रानी जी के पास ही है।

राजा अपने मन का तूफान नहीं रोक सका। वह दुर्ग की दीवारों को फाँदकर अन्त:पुर में जा पहुँचा। वहाँ जब रानी को पर-पुरुष यानी गायक के संग सोये देखा तो प्राणों में बिजली दौड़ गई। उसे एक साथ इतना सन्ताप हुआ कि उसे अपनी आँखों से कुछ दीखा तक नहीं।

पर राजा ने विवेक से काम लिया। उसने अपनी रानी को अपनी उपस्थिति जतलाने के लिए उसके आँचल से अपना उत्तरीय बदल लिया।

प्रभात हो गया।

राजा का उत्तरीय देखकर रानी आत्म-ग्लानि से जल उठी।

पर ?

राजा ने ऐसा विचित्र न्याय किया कि मंत्रीगण तथा अन्य व्यक्ति सुनकर दंग रह गये। राजा ने उस गायक को रानी पुरस्कार में दे दी।

'तो मैं'······राजा मानसिंह जी ने परेशानी से अपने मुँह पर हाथ फेरकर सोचा—'उस राजा ने रानी को घुला-घुलाकर मारने के लिये उसे गायक को दे दिया क्योंकि वह जानता था—'मेरी रानी इतना पतित और उपेक्षा से परिपूर्ण घृणित जीवन-यापन नहीं कर सकती—तब वह अपने किये पाप का उचित दंड पाकर तरस-तरसकर घुटकर मरेगी'—और मैं···मैं भी ऐसा ही करूँगा। मेरी महारानी-सा···जो अभी नींद में बेफिक्र सोई है, कल से वह असह्य वेदनापूर्ण जीवन गुजारेगी।··· यह तरसती रहेगी—मेरे प्यार की एक-एक बूँद के लिए पर वह भी उसे नहीं मिल सकेगी।

राजा मानसिंह जी ने दृढ़ होकर अपना निर्णय कर लिया।

भोर हो गया।

राजा मानसिंह जी रात्रि की बेचैनी से श्रान्त प्रगाढ़ निद्रा में मग्न थे। उनके द्वारा तनिक विरोध न पाकर रानी यह समझ बैठी कि राजा जी ने उसे क्षमा कर दिया इसलिए उसने पतिव्रता के धर्मानुसार बिस्तरे

से उठकर श्रद्धा से राजा मानसिंह जी के पाँव पकड़कर अपने हाथों को मस्तक पर लगाया।

रानी सा के स्पर्श से राजा मानसिंह जी की निद्रा भंग हो गई।

रानी सा के इस प्रदर्शन-पूर्ण कृत्य से वे जल-भुन उठे। पर बोले कुछ नहीं। भूखी निगाहों से घूरते हुए चुपचाप अन्तःपुर से बाहर हो गए।

महारानी सा उन्हें चकित नेत्रों से एकटक देखती रही और देखते-देखते उसकी स्थिर आँखों में अश्रु छलछला आए।

आदमी शेर के पिंजरे में

सुजानसिंह बन्दी बना लिया गया।

उसकी निर्दोष आत्मा का महा हाहाकार खून होकर आँखों से बरस रहा था।

उसे दीवान के सम्मुख लाया गया।

वह सिर झुकाकर खड़ा हो गया—अचल, और उसकी कांतिहीन सजल आँखें वसुन्धरा की ओर झुक गई।

उसके तन में बार-बार कंपकंपी दीख पड़ती थी जैसे उसका मन जानता था कि उसे कितना और कैसा भयानक दंड दिया जायेगा। फिर भी इस अभागे गुलाम देश का वह शापित इन्सान दीवान जी की आग बरसती हुई आँखों के निमेष को देख रहा था। यह निमेष क्या तूफान उठायेगा, इसकी उसे प्रतीक्षा थी।

राजपूतों के आतंक से परिचित होने पर भी वह अपने मन को ढाढ़स दे रहा था कि राजपूत अन्याय नहीं कर सकते, वे पानी का

पानी और दूध का दूध करेंगे।'''वह निर्दोष है इसलिए उसे मुक्ति मिलेगी।

दीवान जी ने एक बार सुजान को अच्छी तरह देखा फिर कड़ककर पूछा, "नालायक ! तूने ऐसी हिम्मत की ही कैसे ?"

"माई-बाप, मैं बेकसूर हूँ।"

"चुप !"

"सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं किया, आपके पाँव की कसम, अपने बेटे बिसू की कसम !" सुजान फूट पड़ा। उसके आँसू दीवान जी के पाँवों पर चमक उठे।

"तू और बेकसूर ! कमीने कहीं के, जिस थाली में खाता है, उसी को छेदता है। तूने महाराजा का खाना-पीना हराम कर दिया है, तुझे तो जिंदा शेर के पिंजरे में न डलवाऊँ तो मुझे दीवान धनसिंह न कहना।"

"दीवान जी !" उसने हाथ जोड़ दिये। आँसुओं से उसका चेहरा भीग गया, "मैं बेकसूर हूँ अन्नदाता ! रानी मेरी माँ है, माँ !"

"चुप रह हरामजादे, शर्म नहीं आती ! ठोकर से कलेजा निकाल दूँगा। हवलदार, ले जाओ इसे !"

हवलदार और एक पुलिस वाले ने उसे पकड़ा।

सुजान भयानक दंड की कल्पना मात्र से चीख उठा, चिंघाड़ उठा, हाहाकार मचा उठा, "मुझे छोड़ दो, रानी ने मुझे बुलाया जरूर था पर मैंने उसे छूआ तक नहीं, मैं बेकसूर हूँ, माई-बाप ! मुझे छोड़ दो, छोड़ दो।"

लेकिन उसकी चीखें गढ़ की बेजान दीवारों से टकराकर चकनाचूर हो गई।

एक करुणा की मौन आवाज गढ़ के तमाम गुलामों के हृदयों को चीरकर गूँज उठी, "सुजान बेकसूर है।"

दूसरे दिन ही यह समाचार हवा की भाँति सारे शहर में फैल

गया। मुँह-मुँह बस यही चर्चा थी कि सुजानसिंह नामक एक चाकर को जिंदा शेर के पिंजरे में डाला जायेगा। उस गोले ने जान-बूझकर महारानी सा की इज्जत लूटनी चाही।

प्रजा ने सुजान पर थूका।

रात हो गई थी।

सुजान गढ़ के घुटे-घुटे कमरे में निढाल पड़ा था। उसकी निर्दोष आत्मा की क्रुद्ध, खिन्न, प्रतिशोध से परिपूर्ण आवाज उस कमरे में मौन हाहाकार उत्पन्न कर रही थी। मुख पीला पड़कर उदास हो गया था। विचार उत्तेजित थे और भावना उत्पीड़ित।

वह अनुभव कर रहा था कि जैसे गंदी नालियों में मच्छर भंगी के झाड़ुओं से बिना वजह ही मारे जाते हैं, ठीक उसी प्रकार इस गढ़ में हम मार दिये जाते हैं। जुल्म, जुल्म की हद!

वह तड़प उठा।

मौत की प्रतीक्षा!

शेर के नोचने की मर्मान्तक पीड़ा और असह्य जलन उसकी आत्मा की गहराई में चुभती जा रही थी। वह कभी सिसककर दीवार से अपना सिर टकराने लगता था तो कभी शेर के पिंजरे की कल्पना कर दाँत भींचने लगता था।

कभी उसका विद्रोही मन उमड़ पड़ता था कि उसके बदन में इतनी शक्ति आ जाये कि वह अपने फौलादी बाजुओं से इस गढ़ की दीवारों को मसलकर रख दे, उसकी एक-एक ईंट उड़ा दे, उसे एक विराट ढेर में बदल दे ताकि भविष्य में ये अन्नदाता गुलामों की प्रतिहिंसा को जान जायँ। क्योंकि प्रतिहिंसा मनुष्य का अधिकार है और यह अधिकार उसे मनुष्य ने ही दिया।

सप्तऋषि मंडल काफी नीचे उतर गया था।

हवा भी ठंडी हो गई थी जो इस बात की सूचक थी कि रात काफी ढल चुकी है। भोर का तारा उदय होने को आतुर है।

सुजान पश्चात्ताप के मारे तड़प उठा, 'मैं निर्दोष हूँ। तुम सभी मुझे मारना चाहते हो तो मार दो पर मुझ पर यह लांछन क्यों लगाते हो कि मैं जार (चरित्रहीन) हूँ। मैंने रानी गा को आग समझकर छूआ तक नहीं, फिर मुझे यह दंड क्यों ?'

उसकी आँखें छलछला आईं, 'कितना बड़ा अन्याय है ? और मैं भी कितना अभागा हूँ कि हमेशा बेकसूर ही मारा जाता हूँ।' तब उसे आकाश पर रहने वाले उस भगवान पर अंदेशा हुआ, 'भगवान ! तू कहाँ है ? तू ने अजामिल और मगरमच्छ का उद्धार किया। तू ने द्रोपदी का चीर बढ़ाया और सीता की पत रखी फिर मुझ गरीब से तेरी क्या दुश्मनी है ?'

और उसे याद आया जब वह गिरफ्तार होकर शहर से आ रहा था तब उसके बच्चे बिसू ने उसका हाथ पकड़कर कितने प्यार से पूछा था, 'बापू, अब तुम कब लौटोगे ?'

'जल्दी ही लौट आऊँगा, जब भगवान हम गरीबों की सुनेगा और हमें जागीरदारों व ठाकुरों के अत्याचार से बचायेगा तब मैं लौट आऊँगा बिसू।'

उसकी आत्मा अपनी गहराई में डूबकर बोली थी, 'सुनता हूँ कि संसार में गरीब जाग रहे हैं, लड़ रहे हैं, मर रहे हैं।'

लेकिन अब ?

'अब मैं कभी भी अपने बिसू के पास नहीं जा सकता, अब मैं कभी भी अपनी बहू की प्रीत-भरी अँखियों में नहीं बस सकूँगा। बेचारी बड़ी आश लगाये हर रोज द्वार पर खड़ी अडीक करती होगी। सोचती होगी कि बिसू का बापू आयेगा, बिसू को गोद में लेकर चूमेगा, कहेगा, अरे तू कितना बड़ा हो गया है, बोलता भी है, चलता भी है। तब बिसू कहेगा, बापू ! मैं घास भी उठा लेता हूँ। तब बिसू घास का छोटा-सा गट्ठर लिए, टमक-टमककर चलेगा और उसका बापू बल्लियों उछलकर उसे अपने कन्धे

पर चढ़ाकर खुद नाचने लगेगा। कितना आनंद मिलेगा, कितना सुख मिलेगा…… !

सुजान के नेत्रों से आंसू की धारा बह रही थी।

'सब सपने हो गये।' उसने लम्बी आह छोड़कर कहा।

कल उसे शेर के पिंजड़े में डाल दिया जायेगा।

शेर का मजबूत पिंजड़ा !

उसके जहरीले दाँत !!

उसके खूनी पंजे !!!

सुजान जोर की चहल-कदमी करने लगा।

भोर हो गया था।

पक्षी चहचहा उठे। राजू बाबा भैरवी में गा उठे।

उनका स्वर कोलाहलमय हो रहे वातावरण में वीणा की झंकार की तरह छा रहा था। अलौकिक रसधारा ! अपरिमित जीवन-सुख !!

शहर में ढिंढोरा पिटवा दिया गया था कि आज चार बजे एक नमक-हराम गोले को शेर के पिंजरे में डाला जायेगा।

शहर में आतंक छा गया। रैयत में रोमांच हो गया। सब चर्चा करने लगे कि ऐसा भयानक दंड किसी शैतान को ही दिया जाता है !

"यह किस शैतान से कम है !" पुजारी सोमदत्त ने कहा। यह सरकारी मंदिर के पुजारी थे, "महारानी सा पर कुदृष्टि फेंकी थी नीच ने।"

"फेंकी ही नहीं थी, इसने जबरदस्ती करनी चाही।"

"हरे राम, हरे राम, क्या जमाना आ गया है !"

मास्टर चेतन इसे सहन नहीं कर सका। अपने खद्दर के कुर्ते की बाहों को ऊँची करता हुआ तेज स्वर में बोला, "क्या बात करते हो पंडित जी, जो राजा जी ने कहलवा दिया, उसे सच मान लिया। अरे, ये सदा से गरीबों पर झूठे इल्जाम लगाते रहे हैं। इन्हें भी अंग्रेजी सरकार से डरना पड़ता है।"

पंडित जी नाराज हो गये, "चुप रह नास्तिक, तेरी तो माया ही विचित्र है। न धर्म को मानता है और न भगवान को और आ गया है, नेम-धरम की बात करने। अन्नदाता झूठ नहीं बोलते, प्रभु हैं, साक्षात् प्रभु !"

भिन्न चर्चायें चल रही थीं।

सब सुजान को महापातकी और नीच कह रहे थे।

पर फागा ?

वह शेरनी की तरह अपने अन्तर की व्यथा को दबाये हुए, सच्चाई को जानते हुए प्रतिहिंसा की भावना से अनुतप्त यह सिद्ध करने में तुली हुई थी कि सुजान ही असली अपराधी है। उसने महारानी सा से पापाचार किया है।

उसका विद्रोह पराकाष्ठा पर था।

सुजान के आँसू समाप्त हो गये थे।

आहों के बादलों का धुआँ उड़कर अनन्त शून्यता में लुप्त हो चुका था।

विद्रोह के सुलगते अंगारे धीरे-धीरे बुझ गये थे।

अब उसके सामने मौत दिगम्बरी होकर खड़ी हो गई थी।

अकाल मृत्यु !

उसकी अज्ञात वेदना !!

सर्वस्व की आहुति !!!

और कुछ नहीं।

चार बज गए।

एक जल्लाद ने अपराधी से पूछा, "अन्नदाता ने पूछा है कि तुम्हारी कोई अन्तिम इच्छा है ?"

अपराधी ने शान्त स्वर में कहा, "मैं निरपराध हूं, मेरे पर अन्याय किया जा रहा है। अत्याचार किया जा रहा है, मुझे इन्साफ दो।··· मुझे इन्साफ चाहिए और कुछ नहीं।"

कुछ राजराजेश्वर के अंध-भक्त चिल्ला उठे, "इस पापी को पिंजरे में फेंक दो, इसका मुँह देखना भी पाप है।"

नवीन जागरण में पलने वालों ने आवाजें लगाईं, "इस पर मुकदमा चलाया जाय, इसे इन्साफ दो, इसकी माँग पर महाराजा गौर करें।" पर सिंहों की सन्तान ने इन आवाजों पर जरा भी गौर नहीं किया।

और वह युग-युग से शोषित इन्सान सिंह के पिंजरे में फेंक दिया गया।

जंगली जानवर के हिंसक दाँत देखते-देखते अपराधी की गर्दन पर जा लगे। छुरी से तीखे उसके जहरीले पंजे पल भर में इन्सान की ऐंठी और मरोड़ी हुई अंतड़ियों को बाहर ले आए। इन्सान ने एक जोर की चीख मारी और फिर वह चीख चिर-शांति में बदल गई—विद्रोह के कण हवा में मिलाती हुई कि गुलाम जाग, अब देर न कर!

जानवर का खूनी जबड़ा अब भी आदमी की माँस लगी हड्डियाँ चाट रहा था।

धुएं से भरे काले बादल आकाश में छाने लगे थे। पिंजरे की सलाखें उदास होगई थीं। अँधेरा बढ़ गया था। उस अन्धेरे में शेर की आँखें अंगारों-सी चमक उठी थीं।

रात ढलती जा रही थी।

सड़कें सुनसान और आकाश शून्य।

रैयत के बचे-खुचे लोग भाँति-भाँति की चर्चाएँ करते जा रहे थे, "भाई, चेहरे से तो बेचारा साधू जान पड़ता था।"

"पापी आदमी इस हिम्मत के साथ पिंजरे में खड़ा नहीं हो सकता।"

"कुछ भी हो, बेचारा मारा गया!"

धीरे-धीरे अँधेरा बढ़ता जा रहा था।

उस अन्धेरे में एक छाया-सी निश्चल खड़ी थी। वह मौन हाहाकार कर रही थी। उसने अपने दोनों हाथों से मजबूत सलाखों को पकड़ रखा था। पकड़े हुए हाथों पर बूंद पड़ रही थीं। शेर अब भी देवता की हड्डियाँ

चाट रहा था। छाया जोर से सिसक पड़ी। फूट पड़ी, "सुजान, मैं तेरी हत्यारिन हूँ, हत्यारिन, मैंने तुझे मरवा डाला।" उसने रोते-रोते सलाखों से अपना सिर फोड़ लिया। खून बह उठा। उस खून को छूकर उसने भगवान् से प्रार्थना की, "प्रभु ! तू कहीं भी है तो इन्साफ कर। गरीबों की प्रार्थना सुन, उनकी रक्षा कर।"

छाया रोती रही, तड़पती रही और यह कहकर वहाँ से विदा हो गई, "फागा को तू माफ कर देना। मरकर वह तेरे पास ही आयेगी। वह तेरी सर्वस्व है।"

इसके बाद गढ़ के आदमियों में यह बात चल पड़ी कि कहीं दूर से एक चीख आती है, 'मैं निर्दोष हूँ।' इन बुर्जों पर एक लम्बी टाँगों वाला विचित्र आदमी रात के बारह बजे घूमता रहता है। उसके कदमों की आवाज अजीब है। वह बहुत धीरे चलता है। उसकी बाहें झुकी हुई हैं और आँखें भयानक और बाहर निकली हुई हैं।

सबका अनुमान है कि यह निर्दोष सुजान की प्रेतात्मा है। वह अन्नदाता का भक्ष लेकर ही यहाँ से जाएगी।

जुल्म : जागरण का चरण है

महाराजाधिराज राजराजेश्वर मानसिंह इन दिनों काफी बेचैन रहते थे। उनको एक पल भी मानसिक शांति नहीं मिलती थी।

लता का अपहरण।

पुरी की शहर भर में बदनामी।

रानी सा का व्यभिचार।

सुजान का निर्दोष पिंजरे में फेंका जाना। कितने पाप, कितना अन्याय और कितना अत्याचार ?

राजाजी चिंतित हो उठे।

अब वे क्या करें जिससे जनता इन तमाम बातों को भूल जाए और जनता-जनार्दन उन्हें देवता कहने लगे।

काफी सोच-विचारकर उन्होंने जनता के हितार्थ कुछ कार्य करने शुरू किए।

उन्होंने सड़कों की मरम्मत करवाई। पंडितों से यज्ञ आदि करवाए, एक सुन्दर अस्पताल का निर्माण कराने की योजना भी पास कर दी गई।

योजना बन गई।

तब एक दिन --

शहर के बड़े-बड़े ठेकेदारों ने मिलकर अत्यन्त भव्य अस्पताल का नक्शा तैयार किया था जो अस्पताल जनता के हितार्थ अत्यन्त शीघ्र राज्य की ओर से बनाया जाने वाला था--कप्तान अमरसिंह बहादुर की स्मृति में।

राजा मानसिंह जी ने अमरसिंह जी की पत्नी के बार-बार अनुरोध पर कि उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के हेतु शहर में एक जन-कल्याण हेतु धर्मार्थ अस्पताल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

आज अभी दोपहर में अस्पताल का नक्शा पास होना अथवा न होना या उसमें कितनी काट-छांट करनी है, आदि बातों को तय करने के लिए शहर के ठेकेदार, दीवान धनसिंह जी, राज्य के विश्वासपात्र महानुभाव और राजा मानसिंह जी एकत्रित हुए थे। अभी यह बात भी तय करनी थी कि अस्पताल के निर्माण का ठेका किसे दिया जाय ?

नक्शा पेश किया गया।

उसमें तनिक रद्दोबदल करने को कहा गया और निर्माण का ठेका भी सुविधानुसार धनसिंह जी ने अपने एक मित्र ठेकेदार, जिसने

धनसिंह जी का कमीशन तय किया था, उसे दे दिया।

राजा मानसिंह जी और दीवान धनसिंह जी के अलावा सब व्यक्ति जब चले गये तो धनसिंह जी ने राजा मानसिंह जी के कान के सन्निकट अपना मुँह लाते हुए शिकायत भरे स्वर में कहा—"अन्नदाता !···यह रूपली दिन-दिन छिनाल हुई जा रही है। राजघराने और कप्तान अमरसिंह जी की बहुत निंदा करती फिरती है। कहती रहती है कि उसने मेरा जीवन बरबाद कर डाला, मुझे कहीं का नहीं रखा, मेरे साथ यह किया, वह किया।"

राजा मानसिंह जी ने इस पर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया। जब धनसिंह जी ने देखा कि राजा साहब पर उनकी बात का कोई असर नहीं हो रहा है तो वे और बुराई करने लगे—"अन्नदाता ! एक बार मैंने उसे कहलवाया कि यदि तू अपनी नीचता नहीं छोड़ेगी, तो तेरी अक्ल डंडे से ठीक कर दी जायेगी।" तब उस राँड ने मेरे आदमी को लापरवाही से कहा—"डंडे से अक्ल ठीक करने वाले राजा मानसिंह जी के राज्य में जन्मे ही नहीं, जाकर कह देना दीवान जी से।"

"ठीक ही कहा है दीवान जी, आप जैसे नपुंसकों की दीवानगी में छिनालें ऐसा नहीं कहेंगी तो फिर कब और क्या कहेंगी ?"······राजा साहब उठते हुए बोले—"हर समय डंडा काम नहीं आया करता है दीवान जी ! कुछ समस्यायें बातों से भी सुलझाई जाती हैं।" दीवान जी को घूरते हुए वे कमरे के बाहर हो गये।

दीवान जी के सम्मान पर इस 'नपुंसक' शब्द ने चोट कर दी। वे आहत सैनिक की भाँति तड़प उठे। उन्हें रोष आया कि वे इस रूपली की बच्ची को जड़-मूल से मिटा देंगे और महाराजा को बता देंगे कि वे कितने शक्तिशाली और कूटनीतिज्ञ हैं ?

इसी विचार में वे खोये-खोये अपने डेरे चले आये। कुछ आश्वस्त होकर वे सुस्ताने के लिए बिस्तरे पर सोने ही वाले थे कि एस. पी. दौलतसिंह जी ने प्रवेश किया। उनके साथ एक मुसलमान था, जिसका

रंग काला था, जिसने एक कमीज और चुस्त पायजामा पहन रखा था। सिर पर उसके लम्बे-लम्बे सीधे सँवारे बाल थे और बालों पर लाल रंग की तुर्की टोपी थी।

सिपाही के साथ खबर पहुँचाते हुए एस. पी. साहब ने उसे समझाया कि तुम दीवान जी के पाँव पकड़ लेना और न्याय की दुहाई लगाना।

पहरेदार ने आकर कहा, "दीवान जी आपको भीतर बुलाते हैं।"

दोनों भीतर की ओर चले।

उस मुसलमान युवक ने लपककर दीवान जी के पाँव पकड़ लिए और विनय तथा रोने के स्वर में बोला—"माई-बाप, दुहाई है, दुहाई !"

दीवान जी को यह समझते देर नहीं लगी कि यह तोता किसका पढ़ाया हुआ है ? लेकिन वे इस रहस्य से अपने आपको अपरिचित बताते हुए गंभीरतापूर्वक बोले, "क्या बात है ?"

मेरे ऊपर अन्याय हो रहा है।"

"जरा बताओगे भी कि बात क्या है ?" उन्होंने अपने पाँव छुड़वाते हुए पूछा।

एस. पी. साहब ने उसे डाँटते हुए कहा—"जा उस ओर बैठ, औरत की भाँति है...है...करता जा रहा है।...बात करने का सऊर नहीं था तो मेरे साथ आया ही क्यों ?" अपने हाथ के डंडे को हिलाते हुए एस. पी. साहब परामर्श भरे स्वर में बोले—"देखिये दीवान जी, अपने पुराने दीवान हुक्मचन्द का भतीजा केसरीचन्द है न, वह इस गरीब पर अत्याचार कर रहा है।"

"ऐसा क्यों ?"—आँखों को एस. पी. साहब पर जमाते हुए दीवान जी बोले।

"पैसे वाले हैं, फिर पुराने दीवान के भतीजे ठहरे। समझते हैं, न्याय तो अपनी इस मुट्ठी में है, फिर डर काहे का ? पर दीवान जी ! यह अन्याय है।" एस. पी. साहब के स्वर में कृत्रिम पश्चात्ताप था।

दीवान जी एक तो पहले से ही परेशान थे। दूसरे एस. पी. साहब की अस्पष्ट बातों ने उन्हें थोड़ा-सा और झल्ला दिया—"दौलतसिंह जी, आप बात को साफ-साफ शब्दों में समझाइये, अभी मेरे सिर में दर्द है।"

एस. पी. साहब जलकर खाक हो उठे। उन्हें दीवान जी से इस प्रकार के रुखाई के उत्तर की आशा न थी। अपनी पेंट की जेब में से रूमाल निकाल कर उससे अपने चेहरे को पोंछते हुए मन ही मन बोले—'दीवान जी, उस दिन को याद करिये जब आप मेरे पास नादान बच्चे की भाँति रोते, बिलबिलाते आये थे कि किसी भी तरह आप स्वर्णलता के बाप को समझाइये, नहीं तो शहर भर में हमारी और अन्नदाता की बड़ी बदनामी होगी।···और आज हमारे साथ इतनी रुखाई? ठीक ही कहा है कहने वालों ने कि मतलब के यार किसके, दम लगाके खिसके।

"मैंने जो कहा वह सुना ?"—दीवान जी बोले।

"हाँ !" एस. पी. साहब का ध्यान भंग हो गया। उन्होंने हठात् दीवान जी की ओर देखा—"आप क्या फरमा रहे थे ?"

"मैं कह रहा था !"—दीवान जी ने परेशानी की आह छोड़कर कहा—"आखिर बात क्या है ?"

"इस गरीब का नाम इलाहीबक्स है। यह बहुत गरीब और सीधा आदमी है।" एस. पी. साहब ने बात बतानी शुरू की—"इसका एक छोटा सा मकान केसरीचन्द के मकान के पीछे है। केसरीचन्द इसके मवड़े[1] के आगे जाजरू[2] बनाना चाहता है। म्युनिसिपैलिटी ने इसको बनाने का हुक्म भी दे दिया है।"

"बिना जाँच किये ही ?"—बीच में ही प्रश्न किया दीवान जी ने।

"उसे तो गुमान है न, कि मैं दीवान जी का भतीजा जो हूँ।"

दीवान जी ने एस. पी. साहब को कहा—"इसे जरा बाहर भेजो तो ?"

---

१. मुख्य द्वार २. पाखाना।

इलाही बाहर चला गया ।

दीवान जी ने एस. पी. साहब को समझाते हुए कहा—"यह गरीब आपको क्या दे देगा ? केसरीचन्द के विरुद्ध काम करते हुए हमें जरा सोचना पड़ेगा । आप नहीं जानते कि यह बात महाराजा तक भी जा सकती है । और महाराजा जरूर अपनों का लिहाज कर जायेंगे । उन्हें तो राज्य चलाने से मतलब है । इन रोज कुआँ खोदकर, रोज पानी पीने वालों से क्या मतलब !"

उत्तर कोरा था, एस. पी. साहब के सम्मान पर अपमान का प्रहार था । पर कानून और दीवान जी के सम्मुख कैसी शिष्टता रखनी चाहिये, यह सोच कर वे तनिक रुष्टता से बोले—"न्याय भी तो किसी चिड़िया का नाम है ! हम राजपूत न्याय के पीछे सदा मरते आये हैं । आखिर दीवान जी ! मैंने इस गरीब को भरोसा दिया है, आपको मेरी पत रखनी ही चाहिए ।"

एस. पी. साहब के आग्रह ने दीवान जी को ढीला कर दिया । उन्होंने भी सोचा कि आखिर एस. पी. साहब का भी तो उन पर अहसान है । अतः उन्होंने गर्दन को हिलाकर कहा—"मैं सोचूँगा ।"

दीवान जी के आशाप्रद उत्तर को पाकर एस. पी. साहब ने कहा—"सोचने-वोचने से काम नहीं चलेगा, तफरीह में आप भी हिस्सा बंटा लीजियेगा ।"

"क्या भेद भरा है इस बात में !"—दीवान जी थोड़ी व्यंगात्मक हँसी हँसकर बोले—"हम भी सुनें ।"

"इसकी एक जोरदार बहिन है ! शराब की बोतलें मजे में खाली करेंगे ।"

"फिर !"

न्याय की दुहाई, कानून का फैसला, अपनेपन का लिहाज सब लुप्त हो गये । धनसिंह जी का ध्यान एक बार पुनः एस. पी. साहब की बात

पर गया और दूसरी बार राजा मानसिंह जी पर ।—"वे गंभीर होकर चहल-कदमी करने लगे ।

एस. पी. साहब बाहर चले गये ।

बाहर निकलते ही मुर्दनी छाये हुये इलाही की पीठ थपथपाते हुये उन्होंने कहा—"मौज करो इलाहीबक्स, दीवान जी ने तुम्हारी अर्जी मान ली है, तुम्हारे घर के आगे जाजरू नहीं बनेगा ।"

"आपकी दया है माई-बाप !"—कहकर इलाहीबक्स ने एस. पी. साहब के पाँव छू लिये ।

दीवान जी के डेरे के बाहर एस. पी. साहब की कार खड़ी थी । उस पर बैठते हुये एस. पी. साहब आत्मीयता का प्रदर्शन करते हुये पूछ बैठे—"तुम्हारा धन्धा अच्छा चलता है ?"

"हाँ, अन्नदाता !"

"माँ-बाप हैं ?"—जानते हुये भी एस. पी. साहब ने उससे पूछा ।

"बाप छोटी उम्र में ही मर गया था, और माँ अभी तीन महीने पहले मरी थी !"

"राम, राम, राम !"—पश्चात्ताप प्रकट किया एस. पी. साहब ने—"और कोई तुम्हारे घर में है ?"

"हाँ, एक बहिन ।"

"बहिन !"

"हाँ, अन्नदाता, रोटी की कमी में ननिहाल में रहती थी, माँ की मौत पर गाँव से यहाँ आई थी और अब भी है ।"

"क्या नाम है ?"

"यास्मिन !"

मोटर का हार्न बजा । एक बूढ़ा अन्धा आ रहा था जिसके कारण एस. पी. साहब को अपनी मोटर धीमी करनी पड़ी । लेकिन वे मन मे सोच रहे थे कि वैसे तो यास्मिन को वे अच्छी तरह जानते हैं । फिर भी पूछ लिया । इसी यास्मिन के सौन्दर्य ने ही एस. पी. साहब को

इलाहीबक्स का पक्ष लेने के लिए विवश किया था।

'काम' मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र, सबसे बड़ा शत्रु, सबसे बड़ी शक्ति और सबसे बड़ी दुर्बलता है।

एस. पी. साहब का मन यास्मिन पर आसक्त हो गया।

और यास्मिन !

गरीबी ने उसे ममता से दूर कर प्रकृति की गोद में ला बिठाया था जहाँ वह शहर के बनावटी जीवन से अनभिज्ञ हवा की भाँति स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर रही थी।

उसका यौवन खेतों में प्रकृति के संकेत पर नियत अवस्थाओं में ऋतुओं के परिवर्तनों के साथ-साथ बदलता गया था। वह अज्ञात-यौवना अपने सरल-सौन्दर्य के कारण खेतों के बीच ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे प्रकृति-नटी। उसके मन में समय के साथ नवीन-नवीन लहरें उठने लगीं जिसका उसे तिल भर भी ज्ञान नहीं था। उसे उन नई भावनाओं का अनुभव जिनमें रोमांच और सिहरनें नाचा करती थीं, ऐसे हो रहा था जैसे मनुष्य को फूल के हृदय में सुगन्धि का ज्ञान होता है।

यास्मिन अब षोडशी हो गई थी। वह बाल-विधवा थी पर उसका शरीर बहुत ही तगड़ा था। उसकी आत्मा एक निर्मल दर्पण के समान थी। जिसमें कठोर श्रम-सुगठित सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता था, और उसका हृदय मधुरता का सागर था जिसमें से उसकी आवाज भीगकर लोक-गीतों की मार्मिक पंक्तियों के रूप में उसके रसीले होठों पर नाचा करती थी।

गाँव का जीवन वसन्त ऋतु में मुस्कराता हुआ, गर्मी की तमतमाती धूप में ऊँघता हुआ, हेमन्त ऋतु में खेत रोपता हुआ और सर्दी में खेत काटता हुआ,—यास्मिन में पूर्ण रूप में मिलता था। उसका मन संसार के बन्धनों से इस तरह मुक्त था जिस तरह कवि के विचार उसकी निराधार कल्पना से। तो भी वह अपने आपको उस सुन्दर अछूती कुँवारी धरती की भाँति समझती थी जो प्यार के बीज

अपने में समाये रखती है पर छल नहीं जानती ।

यास्मिन माँ की मृत्यु पर शहर आई ।

उसने नङ्गी माँ के कंकाल को देखा था, उसके सूखे पीले चेहरे को देखकर उसे अपना लाल गुलाब-सा चेहरा याद आया और उसके मन में एक टीस-सी उठी ।—"मैं इसी माँ की बेटी हूँ, मेरा चेहरा इससे एकदम मिलता-जुलता है ।"—फिर वह रो पड़ी । सावन उसकी आँखों मे बरस पड़ा । एक ऐसा करुण क्रन्दन कर रही थी जो हमारे हृदय की गहराइयों से उभर कर हमारे होठों पर प्रकट होता है ।

माँ का चालीसवाँ समाप्त हुआ ।

यास्मिन के जीवन का प्रारम्भिक काल जिस चंचल अल्हड़ता से प्रकृति की निश्चल गोद में, खेतों-खलिहानों के बीच लोक-गीतों के मधुर प्रवाह में, सुन्दर-सुन्दर खेतों में गाएँ चराते गुजरा था, आज वही शहरी विषाक्त और भ्रष्ट सभ्यता के खूनी पंजे के दोषी वातावरण में अपनी स्वाभाविक आदतों को नहीं छोड़ सका ।

एक दिन वह बाजार में झूमती हुई गाती जा रही थी कि एस. पी. साहब की दृष्टि उस पर पड़ी । एस. पी. साहब ने ऐसा सौन्दर्य नहीं देखा था । तुरन्त उन्होंने पता लगाया कि यह जवान छोकरी कौन है ?

पता लग गया । जहाँ यास्मिन रहती थी, उसी मोहल्ले में एक पान की दूकान थी, वहीं एस. पी. साहब ने उठना-बैठना प्रारम्भ किया । वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों के सुख-दुख के बारे में पूछ-ताछ करनी प्रारम्भ की । नशेबाजों को भाँग पिलाई और इलाही को चाँदी की चमक बताई । सबने एक स्वर में कहा—"दौलतसिंह जी रैयत के सुख-दुख की पूरी खोज-खबर लेते हैं ।"

पर कोई नहीं जानता था कि यह देव के भेष में दैत्य उस निर्दयी भँवरे की भाँति है जो जहाँ फूल देखता है, वहीं गुनगुनाने लगता है ।

संयोग की बात समझिये इलाही के साथ केसरीचंद का जो झगड़ा शुरू हुआ, उसका गला अन्याय के बल घोंटकर झूठ का पक्ष लिया जाने

लगा तो इलाही ने एस. पी. साहब के पाँव पकड़ लिये ।

एस. पी. साहब तो ऐसे मौके की ताक में बैठे थे ही । उन्होंने सोचा कि अब इलाही कौरवों के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की तरह फँस चुका है, पर अभिमन्यु समर्थ था और यह सब तरह से असमर्थ, तो भी उन्होंने उसका हाथ पकड़ा । हाथ इसलिये पकड़ा कि वे उसकी बहिन के अछूते यौवन को अपनी तृप्ति का साधन बना सकें ।

मोटर अभी भी उसी रफ्तार से चली जा रही थी ।

एस. पी. साहब कोतवाली के सामने अपनी मोटर को रोककर उतरे । उनके पीछे इलाहीबक्स भी उतरा । दोनों कोतवाली के भीतर गये ।

कोतवाली के भीतर एस. पी. साहब अपनी कुर्सी पर बैठकर रूमाल से पसीना पोंछने लगे ।

इलाहीबक्स फर्श पर बैठा-बैठा अपनी कमीज की बाँह से पसीना पोंछ रहा था ।

चपरासी एस. पी. साहब के सामने लेमन का गिलास रख गया ।

लेमन का घूँट लेते हुए एस. पी. साहब ने पूछा—"अरे इलाही ! तुम्हारी यास्मिन का विवाह नहीं हुआ ?"

"हो गया था बचपन में पर उसका शौहर बचपने में ही मर गया था ।"

"नाता नहीं करती ?"

"यह यास्मिन की अपनी इच्छा है ।...पर हमारी अम्मी की इच्छा थी कि वह मेहनत-मजदूरी करके ही अपनी जिन्दगी बसर करे, और यही वजह थी कि उसने उसे ननिहाल भेज दिया था ।"

"भगवान का बड़ा अन्याय हुआ है इस गरीब पर ।"—दुख प्रकट किया एस. पी. साहब ने—"वह ये सब बातें जानती है ?"

"जी ।"

"कुछ कहती नहीं ?"

"कहती है, भैया ! तकदीर ने जब मालिक का दिया ही छीन लिया, अब नाता करना फिजूल है। और साहब ! वह और उसकी भोली आदतों को देखकर यह दिमाग़ में ही नहीं आता कि यह बुरे रास्ते चली जायेगी, बड़ी भली है यास्मिन।"—इलाही का स्वर स्नेह से भीगा हुआ था। उसकी रूह के सच्चे जज़बात उसकी आवाज में बसे हुए थे।

"कुछ काम करेगी ?"

"काम नहीं करेगी तो खायेगी क्या ? पर करेगी गाँव में ही। यह शहर है, यहाँ लुच्चों-लफँगों की कमी नहीं। आखिर वह भी औरत है, कूँए में गिरते कितनी देर लगती है ?"

एस. पी. साहब ने कहा—"सो तो ठीक है, अच्छा, अब तुम जाओ, कल यहीं पर मिल लेना।"

"जै माता जी की !" इलाही ने सिर झुकाकर कहा और कोतवाली से बाहर हो गया।

× × ×

इसके बाद एस. पी. साहब ने मन ही मन यह निर्णय कर लिया कि इन तिलों में तेल नहीं है।···'इससे हमारा कोई काम बनने-बनाने का नहीं। क्योंकि इलाही जो अपनी बहिन पर अपना जीवन लुटाता है, वह उसके पतन को देखने के लिये तैयार कैसे होगा ? क्या वह स्वयं पतन का कारण बन सकता है ?···नहीं···तो···?'—अपने डेरे के 'गोल बाग' में जहाँ खिले हुए फूलों की भीनी-भीनी महक आ रही थी; जहाँ लाल-पीले, नीले फूल आँखों की थकान को मिटा रहे थे; वहीं उनके विचार ऐसे चक्रव्यूह की रचना कर रहे थे जिस में किसी की आबरू की बेरहमी से हत्या की जाने वाली थी।

"प्रयत्न करने वालों को अपनी शंका का समाधान मिलता ही है—देर या सबेर।" सोचते-सोचते एस. पी. साहब की ख्याली दृष्टि एक औरत पर जमी जिसका नाम जरीना था।

ढलती उम्र की गेहुँए रंग की यह तगड़ी औरत बड़ी जालिम थी।

उसकी शोख़ अदायें, उसके पैने-अन्दाज और उसकी जबान का मिठास उसके आकर्षण का त्रिकोण था।...पर वास्तव में वह कुटनी थी। ऐसी कुटनी जो अपने साथ रहने वाली लड़कियों को प्रलोभन देकर उन आवारा व्यक्तियों तक पहुँचाया करती थी, जो चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, जो दिन के उजाले में शराफत का चोगा पहनकर आडम्बर का प्रदर्शन करते हैं, पर रात के काले अन्धेरे में वेश्याओं के कोठे पर चोरों की भाँति इसलिए छिपकर चढ़ते हैं कि कहीं उनकी बनी-बनाई इज्जत मिट्टी में न मिल जाय।

एस. पी. साहब को जरीना के ख्याल मे आशा बँधी। सोचा—'यह सब घाट का पानी पीने वाली छिनाल औरत, यास्मिन क्या, भली से भली औरत को फँसाकर मेरे तक पहुँचा सकती है।'

और उन्होंने उसी समय अपने चाकर को आज्ञा दी—"जाकर छगन पान वाले को बुला ला।"

फिर उसी प्रकार एस. पी. साहब विचारमग्न टहलने लगे।

रह-रहकर उनकी आँखें दरवाजे की ओर उठ जाती थीं। बीस मिनट के बाद एक साईकल सवार ने डेरे में प्रवेश किया।

साईकल पर छगन सवार था। उसने आते ही नत-मस्तक होकर एस. पी. साहब को प्रणाम किया—"जै माता जी की ठाकुर सा!"

"आओ छगन।"

"क्या हुक्म है ठाकुर सा?" छगन ने अपनी आदत के अनुसार एस. पी. साहब को 'ठाकुर सा' ही कहा।

"हुक्म क्या, एक मामूली काम है।"—एस. पी. साहब ने अपनी तुच्छता का परिचय देने और यह बतलाने के लिये कि मेरा तुम से हार्दिक प्रेम है, दीनता से कहा।

"शर्मिंदा मत कीजिये ठाकुर सा, हम तो आपके हुक्म के ताबेदार हैं।"—बड़े आदमी के मुँह से ऐसी छोटी बात सुनकर छगन गद्गद् हो गया।

"बैठो, और बताओ नाश्ता क्या करोगे ?"

"बस, आपकी कृपा चाहिए।" छगन ने हाथ जोड़ दिये।

हँसते हुए एस. पी. साहब ने कहा—"छगन ! हमारी कृपा तो हमेशा ही तुम्हारे पर रहती है, पर कभी तुम्हारी कृपा भी हम पर होनी चाहिये।"—उनकी निगाहें किसी फूल पर जम गईं।

शहर के एस. पी. और राजसी ठाकुर की इतनी आत्मीयता पाकर छगन नशे में आ गया। पर वह यह नहीं जानता था कि जो नशा एस. पी. साहब तुम्हारे पर चढ़ा रहे हैं, उसकी कीमत में वे तुम से इन्सानियत माँगने वाले हैं।···पर नशा तो नशा ही है। जब चढ़ जाता है तो आदमी सब कुछ भूल ही जाता है।

नशे में मदहोश होता हुआ छगन हँसकर बोला—"आप हुक्म कीजिए न ठाकुर सा ! जो कहेंगे, वही करके बता दूँगा।"

तुम्हारे मोहल्ले में इलाही है न ?"

"कौन इलाही···करीमबक्स का बेटा ?"

"हाँ, वही।"

"कहिये।"

"देखो, पैसा तुम जितना चाहो ले लेना, पर बात दूसरे के कानों में नहीं जानी चाहिए। जो काम बता रहा हूँ पूरा करके दिखाना।"

"आप भरोसा रखिये।"

"उसकी बहिन है न ?"

"जो गाँव से आई है ?"

"हाँ, वही, वह···!"

"पर ठाकुर सा···!"

बीच में ही एस. पी. साहब ने उसे रोकते हुए समझाया—"रास्ता मैं बताये देता हूँ, उस जरीना को दस-बीस रुपये देकर पटालो, सब काम चुटकी बजाते हो जायेगा।"

"मैं जरीना को तो पटा दूँगा, आगे आप सँभाले। मेरे बूते की नहीं।"—छगन ने हाथ जोड़े ही कहा।

"फिर यह एडवांस!"—उन्होंने पाँच-पाँच के चार नोट छगन के हाथ में पकड़ाये—"यह दस तुम लो, पर काम जरा होशियारी से करना।"

"अच्छा मैं चलूँ।"—छगन पुनः साईकल पर सवार होकर चलता बना। एस. पी. साहब के होंठों पर मुस्कान नाच उठी—कामुकता भरी।

× × ×

तीन दिन बीत गये।

दीवान जी ने देखा कि एस. पी. साहब ने फिर उस व्यक्ति की चर्चा उठाई ही नहीं जिसे वे यहाँ लाये थे, जिसकी बहिन जवान है। तब उन्होंने फोन से एस. पी. साहब से बात की। एस. पी. साहब ने बिलकुल झूठ बोलते हुए बात टाल दी—"वह छोकरी तो उस दिन ही गाँव चली गई थी, इसलिए मैंने उस इलाही पर ध्यान देना ही बन्द कर दिया है।.........वह खुद जाने अपना मुकदमा। कौन किसके झंझट में खामखा पड़े?"

उधर जरीना ने जैसे ही कड़कते कागजों के नये नोट देखे वैसे ही उसकी बुद्धि लालच में पड़कर जोर से कार्य करने लगी। उसने यास्मिन से मित्रता बढ़ाई। मित्रता के साथ-साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी।

यास्मिन ने भी उसे अपनी हितैषी समझा। सोचती थी कि उसे मेरा कितना फिक्र इन दो-तीन दिनों की दोस्ती में हो गया है? उसे मुझ पर किये गये खुदा के जुल्म के प्रति शिकायत है कि उसने तुम जैसी मासूम जान पर बेवा का कहर क्यों ढा दिया?.........वह यास्मिन जैसी अज्ञात-यौवना को उस रहस्य का सार समझाने लगी जो पुरुष का संसर्ग माँगती है।

जरीना यास्मिन के गालों पर चुटकी भरती हुई उपहास से बोली—"तेरा हुस्न क्या है यास्मिन, एक कयामत है।"

"............।"—यास्मिन ने केवल मुस्करा भर दिया।

"और यह जवानी, खुदा कसम......!"

"बस ज़रीना, बस कर। ज्यादा रहम अच्छा नहीं। तेरी बातें मुझे भा नहीं रहीं।" कहते हुये यास्मिन का चेहरा उदास हो गया।

"क्यों ?"

"खुदा जाने।" यास्मिन ने तुरन्त कहा, "कम्बख्त खुदा ही इतना समझदार होता तो खिलने के पहले ही तेरी जड़ें क्यों काट देता ? भला सोच यास्मिन, जवानी के इस उबाल को बिना पानी का छींटा दिये उफन कर बहने से रोक सकेगी ? है इतनी ताब कि कुदरत के दिये इस बोझ को इस प्रकार ढो सके ? मेरी बात मान, समझ-बूझकर नाता जोड़ ले, अपने यहाँ तो यह जायज भी है, और तेरे लिये जरूरी भी।"

"पर मेरी माँ और नानी का कहना है कि तकदीर तदबीर से नहीं बदली जाती।"

जैसी तेरी मरजी, यह याद रख कि जजबात और हकीकत में बड़ा फर्क है।—बात का रुख बदलती हुई जरीना बोली—"बोल, मेरे साथ एक काम चलेगी।"

"कहाँ !"—प्रश्न किया यास्मिन ने।

"बड़े बाजार तक।"

"हाँ !"

दोनों चल पड़ीं।

रास्ते में छगन की दूकान पड़ती थी। जरीना उसका पान खाने चली गई। पान खाते-खाते उसने छगन को इशारा किया। छगन ने खुद भी पान खाते हुए कहा—"पीछे वाले दरवाजे से आना, मैं ठाकुर सा को लेकर आ रहा हूँ।"

शहर का बड़ा बाजार शहर की चहारदीवारी के समीप पड़ता था। चहारदीवारी के बाहर घना जंगल पड़ता था। उस घने जंगल में छगन पान वाले की बगीची थी, उस बगीची के पीछे एक गन्दे पानी का

नाला था, जिसमें तमाम शहर का गन्दा पानी इकट्ठा होकर जङ्गल की ओर बहता था।

जरीना यास्मिन को विभिन्न बातों में निमग्न रखती हुई अपने साथ लिये जा रही थी। बात-बात में वह एस. पी. साहब की तारीफों के पुल भी बाँधती जा रही थी।

यास्मिन का मन उसके फरेब से अनभिज्ञ-बातों के रस में डूबता ही जा रहा था। वह तो निश्छल थी, तभी तो उसे ज़रीना की बातों में ज़हर का आभास नहीं हुआ।

जब बातों का सिलसिला भंग हुआ तब यास्मिन ने दंग होकर पूछा— "यहाँ कहाँ आ गयी हैं, शहर से निरी[1] दूर ?"

"बातों में मुझे भी ख्याल ही नहीं रहा।"—जरीना ने विस्मय से नेत्र विस्फारित करके कहा।

"अब वापस घूमो।"

"हाँ, जरा ठहरो तो,.........जब यहाँ तक आ ही गयी हैं तो जरा इस बगीची में मेरी एक भायली रहती है, उससे दो बातें कर लूँ।"

यास्मिन ने उतावलेपन से कहा—"बातें ! खैर कर लो पर......"

"तुम्हें एतराज हो तो लौट चलूँ। देर हो रही है। मैं तो कल अकेली भी आकर मिल लूँगी।" जरीना बीच में ही बोल उठी।

"नहीं, नहीं, एतराज क्या ? अब आई हो तो मिल लो।"

दोनों छगन की बगीची के पिछले दरवाजे की ओर गयीं।

दरवाजा खटखटाया गया।

छगन ने दरवाजा खोला। उसे आँख मारती हुई जरीना बोली— "मथरा है ?"

"हाँ है, भीतर के कमरे में।"

दोनों भीतर चलीं।

१. बहुत

बगीची में तीन कमरे थे। एक कमरे में एक मौचा (खाट) पर बिस्तरा बिछा पड़ा था। उस कमरे में छगन ने दोनों को बिठाया। उस समय उसके भाव एक अपरिचित के से थे।

वहाँ उन्हें इतमिनान से बिठाता हुआ वह बोला—"आप यहीं बैठियेगा, मैं मथरा को बुला लाऊँ?"—छगन बाहर चला गया। छगन को बाहर गये अभी पाँच मिनट भी नहीं हुए थे कि पेशाब करने का बहाना करके ज़रीना भी चली गई।

मुख्य दरवाजे के बाहर तीनों मिले।

एस. पी. साहब, छगन और कुटनी ज़रीना।

इस समय एस. पी. साहब सादी पोशाक में थे। मुँह में सुर्ती का पान चबा रखा था। उनके हाथ में एक फीट लम्बा काला गोल डंडा था।

ज़रीना पुतलियों को बाईं ओर नचाती हुई नखरे से बोली—"ठाकुर सा! मैंने अपना काम पूरा कर दिया है।"

"यह मुझे विश्वास था।"

छगन ने भी एस. पी. साहब की बात की पुष्टि की—"यह ज़रीना वह भड़वी[1] है कि अच्छी से अच्छी छोरियाँ भी इसके चंगुल में आने के बाद नहीं निकल सकतीं।"

इस पर मुस्कराकर ज़रीना बोली—"मेरी आँखों में शनिचर है, जो मेरी ओर देख लेता है, वह मेरे वश में हो जाता है।"

एकाएक छगन ने इस सिलसिले को तोड़ा—"पर अब क्या किया जाय?... ...कहीं हमारी बातों की देरी के कारण वह बाहर न आ जाय?"

ज़रीना ने विश्वास भरे स्वर में कहा—"करना क्या है?...एस. पी. साहब को कहिये कि जाकर अपना काम बनालें।"

---

१. दलाल

एस. पी. साहब इस पर कुछ हिचके। सिहर कर कहने लगे—"कहीं उसने जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया तो ?"

"आपका क्या लिया ? यहाँ उसकी आवाज कौन सुनने वाला है ? ······इस जंगल में आपका राज्य है ठाकुर सा !"—जरीना ने ठाकुर सा की प्रशंसा की। ठाकुर सा अहम् से अकड़ गये।

छगन बगीची के चारों ओर इस कारण चक्कर लगाने लगा कि कोई परिचित न आ जाय और जरीना बगीची के बाहर बैठ गई। एस. पी. साहब उस कमरे की ओर बढ़े जिसमें यास्मिन का अछूता यौवन असमंजस में पड़ा था।

एस. पी. साहब ने झपटकर कमरे में प्रवेश किया। लपककर साथ ही दरवाजा बन्द किया। कमरे में अन्धेरा छा गया। यास्मिन ने घबरा कर पूछा—"कौन है ?"

"·········।"—एस. पी. साहब ने कोई उत्तर नहीं दिया। वे यास्मिन की ओर बढ़ते ही गये। यास्मिन निरीह इन्सान की भाँति काँपती रही। उसके रोंगटे इस अचानक घटना के कारण खड़े हो गये। वह चीख उठी—"जरीना,···ए जरीना !"

यास्मिन की चीख कमरे की दीवारों से टकराकर ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठी।

एस. पी. साहब अब उसके बिलकुल सन्निकट थे। उनकी आँखों में वासना थी, उनके होंठों पर लपलपाती जीभ इस बात की सूचक थी कि एक तृष्णा उनको अंधा बना रही है। यह तृष्णा कभी शान्त नहीं होती पर अपनी तृप्ति समय-समय पर अवश्य करना चाहती है।

यास्मिन ने अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई और लपककर दरवाजे की ओर भागी। एस. पी. साहब का कठोर हाथ उसकी कोमल कलाई पर पड़ा। उसने तड़पकर कहा—"छोड़ दो मुझे, छोड़ दो,······ जरीना !"

से वह लात एस. पी. साहब के अण्डकोश पर लगी। एस. पी. साहब को गश सा आ गया।

यास्मिन तुरन्त बाहर भागी।

पहले वह उस दरवाजे की ओर भागी जहाँ जराना और छगन खड़े थे। उन दोनों का ख्याल कर वह पीछे वाले दरवाजे से भाग गई।

थोड़ी देर बाद छगन और जरीना के सामने एस. पी. ने आकर कहा—"रंडी दौड़ गई।"

वे दोनों चौंक उठे।

शाम हो गई थी।

मटमैली धुंध शहर पर अधिकार जमाने लग गई थी। शांत वातावरण पैदा हो रहा था।

छगन ने देखा कि यास्मिन घर से बाहर क्यों नहीं निकली? वह भी किसी आशंका से डरकर वहाँ से चलता बना।

जब यास्मिन अपने घर पर पहुँची तब उसके घर का दीया जल रहा था। दीये के प्रकाश में उसका भाई इलाही कागज के खिलौनों पर रंग चढ़ा रहा था। अपनी ओढ़नी में गुस्से से भयानक चेहरे को छिपाती हुई वह भीतर की कोठरी में जा घुसी। इलाही ने झपटकर उसे अपनी बाहों में भर लिया, "यास्मिन, कहाँ चली गई थी, तुम्हारे बिना मेरा यह पाक दिल बेताब हो रहा था। अरे, यह तूने कैसी हालत बना रखी है? उदास क्यूँ है? अरे, तू तो बोलती ही नहीं, क्या अपने भैया से नाराज है?...बोल, यास्मिन, बोल..."

यास्मिन रो पड़ी।

अपने को उसकी बाहों से मुक्त करती हुई वह एक किनारे बैठ गई जैसे वह अछूती हो। वह बैठी-बैठी इस तरह काँप रही थी जिस भाँति पतझड़ में पत्तों से हीन टहनियाँ। उसने अपने दोनों हाथों में अपना चेहरा छुपा लिया जैसे वह इस आवरण द्वारा उस घटना को छुपाना

चाहती है जो उसके चेहरे की मधुरता से भयानक और अपनी सुन्दरता से घृणित है।

"क्या बात है ?" स्नेहसिक्त स्वर में इलाही बोला।

रोते-रोते उसने अपनी आपबीती सुनाई।

भाई की रगों में चिनगारियाँ जल उठीं। उसने यास्मिन के सिर पर हाथ रखकर धैर्य बंधाया, "तुम फिक्र मत करो, मैं उस ठाकुर के बच्चे का खून पी जाऊंगा। गरीब हूँ तो क्या हुआ, इन बाजुओं में तो अभी ताकत है।"

"पर भैया !"

"यास्मिन !"—आँसू उसकी विद्रोही आँखों से छलक आये। --"तुम यहीं बैठो, मैं अभी आया।"—कहकर इलाही अपने घर से बाहर हो गया---"मैं ज्यादा सोचता-समझता नहीं हूँ, या तो इस पार या उस पार ?"

शहर के बीच स्वामी रामदास रहा करते थे। इनका सारे शहर के बुद्धिजीवों पर अच्छा प्रभाव था क्योंकि नवजागरण को इन नादिरशाही रियासतों में लाने का श्रेय इन्हें ही था। हालाँकि राजा को परमात्मा मानने वाले रूढ़िवादी व्यक्तियों की दृष्टि में स्वामी जी देशद्रोही माने जाते थे, पर सत्ता भी उनसे कुछ डरती अवश्य थी।

स्वामीजी के पास जाकर जब इलाही ने अपनी दुखभरी कथा सुनाई तब उनका रोम-रोम काँप उठा। इतना बीभत्स बलात्कार करने की चेष्टा, रक्षक-भक्षक बनें ; वे सहन नहीं कर सके। उन्होंने इलाही को समझाया कि वह घबराये नहीं, कानून और जनता की आवाज के साथ लड़ा जायेगा, कल से आन्दोलन प्रारम्भ किया जायेगा, जगह-जगह पोस्टर्स लगाये जायेंगे जिनमें लिखा होगा---या तो राजा मानसिंह जी एस. पी. साहब पर खुली अदालत में मामला चलायें अथवा इस बार इन शोषकों को बता दिया जायेगा कि जनता जब अधिकार माँगने लगती है तो वह अजेय बन जाती है, गरीब जब संगठन के सूत्र में बँधते

हैं तो संघर्ष उन्हें एक तार में पिरो देते हैं ।"

इलाही का खौलता हुआ खून स्वामी जी की बातों से ठंडा नहीं हुआ । वह तो अत्याचार का तुरन्त प्रतिशोध लेना चाहता था । स्वामी जी उसके मन की बात ताड़ गये । उसे समझाते हुये बोले—"देखो इलाही ! कानून को अपने हाथ में मत लेना, कानून को हाथ में लेना अपने हक में बुरा हो जायेगा ।······चलो हमारे साथ कोतवाली को, एस. पी. साहब के विरुद्ध डायरी लिखा आयें ।"

स्वामी जी और इलाही कोतवाली पहुंचे ।

कोतवाली में थानेदार सोहनसिंह शराब पिये मस्ती में ऊँघ रहा था । स्वामी जी को देखकर तुरन्त बोला—"आइये स्वामी जी, आज आपने यहाँ आने का कष्ट कैसे किया ?"

"जब कोई किसी पर अत्याचार करता है तो जनता पहले-पहल सरकार की ही शरण लेती है ।"

"कहिये क्या बात हुई ?"

एस. पी. साहब ने इलाही की बहिन यास्मिन पर बलात्कार करने की चेष्टा की है, उसके साथ छगन पानवाला और कुटनी जरीना थी । ······इलाही न्याय चाहता है ।"

स्वामी जी के मुख से ये बोल सुनकर थानेदार की जबान तालु में सट गयी । वह हक्का-बक्का-सा स्वामी जी को देखता रह गया ।

स्वामी जी ने कहा—"दर्ज कीजिये न ?"

थानेदार वहाँ से खिसकता हुआ बोला—"हो जायेगी स्वामी जी, हो जायेगी । आप चिन्ता न कीजिये । आपका यहाँ आ जाना ही बहुत है ?"

वह कोतवाली से बाहर चला गया ।

कहने का मतलब यह है कि स्वामी जी इधर से उधर और उधर से इधर, चक्कर काटते रहे पर उनकी शिकायत किसी ने दर्ज नहीं की । लाचार वे वापस लौट आये ।

इलाही को घर भेजते हुये उन्होंने कहा—"चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, जबान में टाँके लगाकर चुप नहीं बैठेंगे।"

इलाही अपने घर आया। पहले वह सीधा छगन पान वाले की दूकान पर पहुँचा पर वह मिला नहीं। बाद में वह ज़रीना के घर पहुँचा, वह भी गायब थी। वह बड़बड़ा उठा—'आज कोई नहीं मिल रहा है, मिल पाता तो कच्चा ही चबा जाता।'

अपने घर में घुसते ही उसने पुकारा—"यास्मिन।"

यास्मिन जमीन पर पड़ी-पड़ी सिसक रही थी। उसके गाल आँसुओं से तर थे। भाई की पुकार सुनकर उसने मुँह घुमाकर देखा।

"पगली रोती है?" देखती जा, एक-एक को मार-मारकर कचूमर निकाल दूँगा।"

"तुम जानते हो, उस हरामजादे ने मुझे किस बेरहमी से नोचा, मेरा जी चाहता है कि उसे मैं खुद मारूँ?"—वह जोर से फूट पड़ी।

"तू क्या मारेगी, मैं उसे मारूँगा।"

"फिर मार क्यों नहीं आता? देखता किसे है?"

"स्वामी जी ने कहा है कि कानून को हाथ में लेना अच्छा नहीं है।"

इस बात पर यास्मिन भड़क उठी—"यदि मैं स्वामी जी की सगी बहिन होती तो उन्हें दर्द होता? इज्जत जाती तो मेरी। भैया! तू नहीं जानता कि वह कितना बड़ा शैतान है!……उसको तो जान से मार आ।"

इस बार इलाही ने अपने बाजुओं को देखा और देखा अपनी बहिन के बहते हुये अविरल आँसुओं को, उसके हृदय के विद्रोह को। और उसने सोचा कि इन बाजुओं की ताकत बहिन की इज्जत बचाने में काम न आये तो इनका होना और न होना बराबर है।

तब उसने छुरी सम्भाली—"खुदा तुम्हारी मदद करे।"

यास्मिन पत्थर-सी बनी जाते हुए इलाही को देखती रही।

एस. पी. साहब के डेरे को देखते ही इलाही का क्रोध उस बारूद की तरह फूटा जिसमें आग लग गई हो।

उसने जाकर ड्योढ़ीदार से कहा—"अन्नदाता को जरा खबर कर दो कि आपका चाकर इलाही आया है।"

ड्योढ़ीदार भीतर चला गया।

इलाही क्रोध के कारण डेरे के दरवाजे पर जोर की चहल-कदमी करने लगा।

ड्योढ़ीदार ने आकर वापस कहा—"आपको एस. पी. साहब भीतर बुलवाते हैं।"

इलाही भारी कदम उठाता हुआ डेरे में घुसा।

एस. पी. साहब के कमरे में घुसते ही उसने देखा—वे आराम-तलब बिस्तरे पर पड़े हुये झपकियाँ ले रहे थे। इलाही को बिना देखे ही उन्होंने कहा—

"क्या बात है इलाही ?"

इलाही ने तड़पकर कहा—"यह जुल्म मुझ गरीब पर क्यों ?"

"जुल्म, मैंने कोई जबरदस्ती नहीं की, फीस तेरी बहिन को लेनी थी।"

"वह नादान फीस और पाप के मायने ही नहीं समझती, एस. पी. साहब ! उसे आप फीस क्या देंगे ?"—वेदना उसके शब्द-शब्द में फूट रही थी।

"क्या बक-बक कर रहे हो ?"—लपककर एस. पी. साहब ने जब इलाही की ओर देखा तो उनके होश गुम हो गये। उठने के लिये वे तैयार हुये कि इलाही ने भरपूर छुरे का वार किया पर उससे एस. पी. साहब बच गये। क्रोध में उसने टेबल पर पड़ी बोतलों को उठा-उठाकर एस. पी. साहब पर मारना शुरू किया। क्योंकि छुरी बिस्तरे के भीतर घुस गई थी। एस. पी. साहब निहत्थे थे। एकाएक हमला हुआ था, इससे वे घबरा उठे। जोर-जोर से चीखने लगे। तभी इलाही ने एक

बोतल जोर से एस. पी. साहब के सिर पर दे मारी। एस. पी. साहब जोर से चीखकर गिर गये। इलाही ने लपककर उनकी नाक काट ली।

तभी दो-चार नौकर दौड़ आये। उन्होंने इलाही को पकड़ लिया। एस. पी. साहब अस्पताल पहुँचा दिये गये।

राज्य हमारा : कानून हमारा

उसी रात स्वामी जी ने इलाही के मोहल्ले वालों को इकट्ठा करके जोश भरे स्वर में कहा--"यह केवल इलाही पर नहीं, हमारे पर जुल्म है। इलाही की बहिन केवल उसकी बहिन नहीं, हम सबकी बहिन है। मानलो आज यास्मिन की इज्जत लूटी है तो कल एस. पी. साहब हमारी बहू-बेटी को भी भगा सकते हैं, उनको भी भ्रष्ट कर सकते हैं।'''इस घटना पर यदि हम बिलकुल चुप्पी धारण करके बैठे रहें तो एक दिन ये सत्ताधारी हमारी बहू-बेटियों को घर से बाहर नहीं निकलने देंगे।'''और एक दिन वही होकर रहेगा जो एक समय फ्रांस में हुआ करता था कि जनता की नव-विवाहित स्त्रियाँ अपनी पहली सुहागरात ठाकुर के पलंग पर बिताती थीं। क्या आप भी उस बात को स्वीकार करेंगे?''' नहीं, तब इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द कीजिये। राजा जी को इस मामले की कार्रवाई की जानकारी देने के लिए एक जूट हो जाइये।"

सबने एक साथ चिल्लाकर कहा--"हम तैयार हैं।"

प्रयाग नामक युवक ने आकर कहा--"इलाही घर में नहीं।"

स्वामी जी ने कहा--"कोई बात नहीं।"--और वे अपने स्वर में तड़प भरकर बोले--"यह घटना साधारण घटना नहीं है, यह जनता

को चुनौती है, हमारे सम्मान पर चोट है, इसलिये हमें इसके विरुद्ध लड़ना ही होगा।"

स्वामी जी ने दो-चार युवकों को साथ लिया और चलते-चलते कहा—"राजवालों से डरना नहीं, वे शायद आकर तुम्हें धमकायेंगे, बड़ी-बड़ी तकलीफ देने का भी डर बतायेंगे। कल से आन्दोलन शुरू होगा।"

सभा खत्म हो गई। रात आई और चली गई।

सवेरे ही यह बात हवा की तरह फैली कि इलाही ने कल रात एस. पी. साहब के डेरे पर हमला बोलकर उनकी नाक काट डाली है। उसे उसी समय गिरफ्तार कर लिया गया।

स्वामी जी यह सुनकर अपने आपसे कह उठे कि उन्हें जिसका डर था, आखिर वह हो ही गया।

लेकिन सवेरे ही जब जनता ने जगह-जगह शहर में यह कागज चिपके देखे तो वह दंग रह गई। उन कागजों पर यह लिखा था—"एस. पी. साहब शहर की बहू-बेटियों को बिगाड़ते हैं। उन पर मुकदमा चले। यास्मिन पर एस. पी. साहब द्वारा बलात्कार। जनता को न्याय चाहिये, राजाजी खुद इस जुल्म पर अपनी नजर डालें, आदि।"

पुलिस के अधिकारी तुरन्त समझ गये कि यह स्वामी जी की ही हिम्मत हो सकती है। उन्होंने तुरन्त स्वामी जी को शहर में अशान्ति फैलाने के जुर्म में पकड़ लिया।

इसके बाद जिस किसी ने आवाज उठाने की चेष्टा की, उस पर जोर का दमन-चक्र चला।

उस समय रियासतों में जागरण के बीज पड़े ही थे।

जनता का रोम-रोम राजा का विरोध करते डरता था। अतः जनता का विद्रोह आग का रूप धारण नहीं कर सका। राज्य के छोटे से लेकर बड़े अफसर सभी राजाओं के अपने परिवार वाले, और उनके अपने सम्बन्धी अथवा राजपूत ही होते थे।

लेकिन इस घटना से उन खैरख्वाहों के मस्तिष्क में भी घोर प्रति-

क्रिया हुई जो राजा साहब को न्याय-परायणी मानते थे। जो एक बड़ा हस्पताल बनाने की योजना के कारण राजा मानसिंह जी को देवता स्वरूप मान बैठे थे; उन सबके मन में भी एक काँटा-सा चुभा 'महाराजाधिराज, राजराजेश्वर मानसिंह के राज्य में इतना अन्धेर ?'

मामला अन्नदाता के सम्मुख पेश किया गया।

सारे राजवी सामन्तों, उमरावों और पदाधिकारियों का आग्रह था कि इलाही को ऐसी सजा दी जाय कि आगे से कोई भी अदना आदमी हम शासकों का विरोध न करे।

राजा मानसिंह जी गंभीरता से बोले, "और स्वामी जी ?"

"उन्हें मार-मार कर भुर्त्ता बना दिया जायेगा।···देश-द्रोह का अपराध लगाकर वर्षों जेल में सड़ने के लिये छोड़ दिया जायेगा, आप चिंता न करें। राज्य हमारा है, कानून हमारा है।"

"लेकिन जनता···?"

"आखिर हम भी तो कोई चीज हैं ?"—एस. पी. साहब के बड़े भाई जीवसिंह जी गर्जे—"हमारा और आपका खून एक है, एक ही कुटुम्ब के दो व्यक्ति हैं, यदि हमारी ही धरती का आदमी हमारी नाक काट लेगा तो हमारा राज्य कितने दिन चलेगा ?"

"हाँ महाराज, सागर में रहकर मगरमच्छ से कोई बैर नहीं रख सकेगा पर इलाही को दंड कठोर दिया जाय।"

"अन्यथा हमें आपको भूलने पर मजबूर होना पड़ेगा।" दीवान जी चिल्लाये।

"फिर जो आपकी मर्जी आये कर लीजिये, सबके साथ मैं भी हूँ। भाइयों से बैर नहीं रख सकता।" राजा मानसिंह जी ने विवशता से कहा। वे एक पल आँखें मूँदकर बैठे जैसे वे देख रहे हैं कि यदि वे अपने भाई-बन्धुओं और सामन्तों को नाराज करते हैं तो वे विद्रोह करने को तैयार हो जाते हैं···उनका विद्रोह···!—वे न्याय की कुर्सी से उठते हुए बोले—"सब की राय हमारी राय है।"

इलाही की आर्त्त भरी आवाज़ राजा मानसिंह जी के हृदय के छोरों से टकराई पर उससे फल कुछ भी नहीं निकला।

राजवी-सामन्तों की अदालत ने इलाही को फाँसी की सजा सुनादी।

जनता में इस अन्यायपूर्ण फैसले से हलचल फैल गई। नव-जागरण की नींव मजबूत होने लगी जैसे जुल्म ही जागरण की सीढ़ी हो।

फाँसी के तख्ते पर जब इलाही से यह पूछा गया कि तुम्हारी आखिरी इच्छा क्या है ?—तब उसने खुदा की ओर अपने हाथ फैलाकर दृढ़ता से कहा—"खुदा ! इस अन्नदाता को जो बे इन्साफी का नक्कारा पीट रहा है, जिसका हरएक नौकर जुल्म की नींव पर हँस रहा है ; उसे ऐसी मौत दे कि ये तड़प-तड़प कर अपने गुनाहों की सजा'''।" वह अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि फाँसी की रस्सी खींच दी गई।

इलाही के आखिरी शब्द राजा मानसिंह जी के कानों में पहुँचे। वे काँप उठे।

ख़त लिखा है खूने-जिगर से

दो साल बाद :—

जिस दिन अस्पताल का उद्घाटन किसी अँग्रेज अधिकारी से कराया जाने वाला था, उस दिन सारे शहर में खुशियाँ मनाई जाने वाली थीं। गढ़ पर रोशनी लगाई जाने की भी योजना थी पर इस अस्पताल के निर्माण में अमरसिंह की दुखद स्मृति की दर्दीली कसक होने के कारण उन सभी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया।

सारे शहर में उस दिन खैरात बाँटी गई। गरीबों ने अमरसिंह की नहीं, राजा मानसिंह जी के चिरायु होने की कामना की।

अंग्रेज अधिकारी को सारा शहर दिखाया गया। रैयत ने उस दिन हमेशा की तरह 'घणी-घणी खम्मा,'''खम्मा अन्नदाता' के गगनभेदी नारों से दिग-दिगंत को गुँजा दिया।

तीन दिन के व्यस्त कार्य से निवृत्त होकर राजा मानसिंह जी चौथे दिन आराम कर रहे थे कि उनके ए. डी. सी. भरतसिंह जी ने उनके सम्मुख एक पत्र पेश किया।

पत्र को उनके सम्मुख रखते हुए उन्होंने निवेदन किया—"यह पत्र किसी लड़की का है और व्यक्तिगत।"

राजा मानसिंह जी ने उपेक्षा से उस पत्र को पढ़ना शुरू किया।

पत्र की पहली पंक्ति थी—

'आप इसे पढ़कर जरूर सोचें।'

"श्री जी साहब बहादुर महाराजा मानसिंह जी को खम्मा !

कई वर्षों के बाद मैं आपको एक पत्र लिख रही हूँ। सबसे पहले मैं आपको अपना परिचय दिये देती हूँ कि मैं वही हूँ जिसको आपकी दानवी पिपासा ने आपके दलाल दीवान धनसिंह जी के माध्यम से छला था।'''

'''शायद आप मिसेज पुरी को नहीं भूले हैं जो आपकी रानी कालिज की प्रिन्सिपल थी, और मैं उसे एक बुद्धिमान कुटनी कहती हूँ जिसने धन-पद के लोभ में अपने उस मन को लोलुप बना लिया, जो मन देश के जीवन के उन अछूते अंकुरों को पालता है जिन पर देश का भविष्य निर्भर है।''''''मेरा नाम स्वर्णलता है। आपने मेरे यौवन को छला क्योंकि मैं आपकी बेटी थी। बेटी इसलिये कि धर्मानुसार हर राजा अपनी प्रजा का बाप होता है।

मेरे गर्भ में आपका अंश पला। आपके बीज ने विस्तार खाया। शहर में इस बात की चर्चा फैली। मेरे बाप कन्हैयालाल जी मुझे शिमले ले आये जहाँ मेरा गर्भ गिराया जाने वाला था।

शिमला, भारत का स्वर्ग !

उसी स्वर्ग की एक पहाड़ी के किनारे मैं बैठी हुई थी, पतझार का

समय था। मैं एकटक उन पत्तों को देख रही थी जिन्हें समीर के तेज झोंके वृक्षों से इस तरह जुदा कर रहे थे जिस तरह ईश्वर प्राणों को तन से। मैंने मुरझाये हुए सुमनों पर दृष्टिपात किया, उनके हृदय सूख गये थे और उनकी पंखुड़ियाँ बिखर रही थीं।

अपनी शाख से फूल गिरकर अपने बीजों को धरती माता को इस तरह सौंप रहे थे जैसे दंगे और युद्ध में स्त्रियाँ अपने आभूषणों को सुरक्षा के लिये जमीन में गाड़ देती हैं।

मैं चिन्तामग्न थी।

क्योंकि कल मेरा गर्भ गिराया जाने वाला था। नर्स ने कहा था कि इस आपरेशन के बाद तुम्हारी जवानी ढल जायेगी। उसमें वह चमक नहीं रहेगी जो नये शीशे में रहती है।

फिर भी मैं लाचार थी। क्योंकि इसमें मेरे पिता की इज्ज़त और खानदान की बदनामी का डर था। इन सभी बातों को सोचकर मैंने जवानी की चिंता नहीं की, उस मधुर स्वप्न को मैंने भंग कर दिया जिसकी सुखद कल्पना युवतियाँ सदैव करती हैं।

मेरे पेट का बच्चा निकाल दिया गया। वह माँस का लोथड़ा था। उस माँस के लोथड़े में न मालूम कौनसी प्रतिमा छिपी थी, ईश्वर जाने!

दो माह बीत गये।

मैं बिलकुल तन्दुरुस्त हो गई थी मेरे अन्नदाता!...पर तो भी मेरे माता-पिता आत्मग्लानि में डूबे जा रहे थे। वह मुझ से कभी भी प्यार से नहीं बोलते थे। एक ऐसी घृणा उनके अन्तराल में घुस गई थी जो फिर बाहर नहीं निकली। वह घृणा धड़कन की भाँति उनके हृदय में बस गई थी!

आखिर मैं भी इन्सान थी। मेरी भावनायें भी कुत्ते-सा उपेक्षित जीवन व्यतीत करते-करते थक गई थीं।...एक रोज मैंने यह विचारा कि मेरे मरने या मेरा सम्बन्ध घर से सदैव के लिए टूट जाने पर मेरे खान-दान की नाक रह सकती है, मेरी वे बहिनें और भाई प्रसन्नता से जीवन-

यापन कर सकते हैं, जिनके अपने आकांक्षा-पूर्ण अरमान हैं।

यही सोचकर मैं एक रात अपने पिता के नाम एक पत्र छोड़कर भाग गई। पत्र में लिखा था—घर के सुन्दर और सुखद भविष्य के लिए मेरा मर जाना ही श्रेयस्कर है।······आप मेरे मरने का रंज न करें।

मैं भाग खड़ी हुई।

भटकती-भटकती एक दिन मैं दिल्ली पहुँची। एसेम्बली भवन के समक्ष जो बड़ा दरवाजा बना हुआ था, वहीं बैठकर सुस्ताने लगी। वैराग्य, करुणा, विषाद, वेदना, क्षोभ और ग्लानि से श्रान्त मेरा मन उत्पीड़ित था, विक्षुब्ध था, क्षुधा से आतुर था।

तभी मैंने एक युवक से पूछा—"होटल कहाँ मिलेगा ?"

युवक सकपका गया। शायद उसने अपनी जिन्दगी में ऐसा अवसर नहीं पाया था कि एक अनजान सुन्दर युवती उससे आकर बात-चीत करे। एक हल्का-सा भय उसकी आँखों में उत्पन्न हुआ और वह कुछ कहते-कहते झिझका। लज्जा और संकोच के भाव भी उसके चेहरे पर एक युवती की भाँति दौड़े जिन्होंने उसकी सुन्दरता को बढ़ा दिया।··· जवान खूब था, जवानी का मद उसके अंग-प्रत्यंग से टपक रहा था। मैं उसे चित्र-लिखित सी देखती रही और वह मुझे बेचैन निगाहों से देखता रहा।

मैंने फिर पूछा—"होटल कहाँ है ?"

उसने दूसरी ओर मुँह घुमाकर कहा—"मेरे पीछे-पीछे चली आओ, मैं तुम्हें होटल तक पहुँचाये देता हूँ।"

मैं उसके पीछे-पीछे चलती गई।

उसने मुझे इतने प्यार से खिलाया-पिलाया कि मैं उस पर रीझ गई। वह एक साधारण क्लर्क था। उसे मुझ पर दया आ गई। हम दोनों साथ-साथ रहने लगे। उससे साथ रहने की प्रार्थना खुद मैंने ही की थी।

दिन बीतते गये। एक रात वह व्यक्ति अपने तूफ़ान को नहीं रोक सका जिसमें उसका उद्दाम आवेश मचल रहा था।

वह मेरे बिस्तरे के समीप आया। मैं निद्रा में निमग्न थी। उसने लज्जापूर्ण आँखों से पल भर के लिए मुझ पर एक उड़ती हुई निगाह डाली और वह मेरी कोमल और नरम-नरम कलाइयों को अपने हाथों से पकड़कर अपने मुँह से चूमकर सहलाने लगा। मेरी आँखें खुलीं। मैंने अपने सामने उसे मनमोहक ढंग से मुस्कराता हुआ पाया। पल भर के लिये मैं भी वस्तु-स्थिति से विलग हो गई। मेरे हृदय का उद्वेग बढ़ने लगा। और वह टिकटिकी बाँधे मेरे चेहरे को देख रहा था। देखते-देखते उसने मुझे अपनी बाहों में भरकर जोर से चूम लिया।

उस चुम्बन में अधिकार की भावना नहीं थी, बलात्कार की चेष्टा नहीं थी बल्कि प्रेम का ज्वार था, अपनेपन का मिठास था।

मैंने उसके गालों को अपने दोनों हाथों के बीच लाते हुए कहा,—"क्या तुम मुझे अपनी पत्नी बना सकते हो?"

उसने कहा—"यह भी कोई पूछने की बात है।"

"क्या तुम इतने समर्थ हो कि जिन्दगी भर मेरा बोझ ढो सकोगे?"

"खुशी-खुशी।"

तब मैं उससे अलग हो गई। क्योंकि मुझे डर था कि भावुकतावश अपनी वासना शांत कर यह भी मुझ से छल न कर ले।'''पर उस युवक का मोह, प्यार और अपनापन दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।

मैं निहाल-सी हो गई।

सच कहूँ—बाद में उस युवक ने मेरे जीवन को अपने वश में कर लिया। वह मेरे लिये जीवन की आवश्यकता से अधिक सुविधायें खरीद कर लाता था और मैं उसके साथ एक पत्नी-सा व्यवहार करती थी। उसने मुझे मुस्कराकर यह भी भरोसा दिया था कि मैं तुम से शीघ्र ही विवाह करूँगा। वह हमेशा अपने अन्तर के एक सत्य को अपनी मीठी

बातों में छिपा लेता था। मैंने भी उसे अपनी ओर से स्वीकारोक्ति दे दी थी।

और एक दिन उसका छिपा सत्य नंगा होकर मेरे सम्मुख आया जब पुलिस ने आकर मेरे हाथों में लोहे की मजबूत बेड़ी डालकर यह कहा—"तुम्हारी जैसी वेश्याएं बहुत खतरनाक होती हैं।"

मैं यह सुनकर अवाक् रह गई। मैंने पुलिस से पूछा—"आखिर बात क्या है?"

उसने कहा—"यह सब अदालत बतायेगी।"

मैं हवालात में बन्द कर दी गई।

राजा जी! आप जानते हैं कि उस युवक ने क्या किया, उसने अपने आफिस के 'कैश' में से दस हजार रुपये हड़प कर लिये। भरी अदालत में उस युवक ने कहा कि मैंने गबन किये हुए रुपयों का एक बहुत बड़ा भाग इसे खिलाया है, पर यह वेश्या नहीं है, मेरी प्रेमिका है, मेरी होने वाली पत्नी है।'''पर इन्साफ ने किसी की आवाज नहीं सुनी। उसे पाँच साल की सजा हुई और मुझे तीन माह की। उस समय मुझे बड़ा कष्ट हुआ था कि यदि वह युवक प्रेम में पागल न होकर, शान के झूठे प्रदर्शन से दूर रहता तो वह भी अपनी जिन्दगी मेरी तरह बरबाद न करता।

जेल से छूटने के बाद मैंने दर-बदर की ठोकरें खाईं। नौकरी करने की चेष्टा की, पर तेरे देश में लाचारों का ठिकाना नहीं। और एक दिन निर्जन स्थान में बसी एक मकबरे की ओट में जहाँ ठंड, सील की दुर्गन्ध थी, जहाँ धरती माता का बिछौना था और नभ की चादर थी, जहाँ मेरे लिये भूख की चोटों से फटती हुई अन्तड़ियों की पीड़ा को सहना असह्य था, वहाँ मैं पड़ी तारे गिन रही थी कि उस भूख की पीड़ा को मैं भूल जाऊँ और यह पीड़ित रात बीत जाये। उस समय भय और चिंता के सिवाय मेरा कोई साथी न था। आँसुओं और आहों के सिवाय कोई हमदर्द नहीं था।'''मैंने कितनी ही कहानियाँ पढ़ी थीं, कितने

ही किस्से सुन रखे थे कि जब नारी परिस्थितियों से घिर जाती है तो वेश्या बन जाती है।···भूख मनुष्य की आत्मा का पतन है, उसकी शिष्टता का शत्रु है। वही भूख मेरे पेट में ज्वाला जला रही थी। पर मैं वेश्या कदापि बनने का तैयार नहीं थी। रोटी की खोज में मैं वहाँ से चली। आते-जाते यात्रियों से मैं भीख माँगने लगी।

रात अधिक हो चुकी थी।

सड़कें सुनसान होती जा रही थीं। तभी मैं जी० बी० रोड पर पहुँची। वहाँ कुछ रौनक थी, वहाँ के घरों में प्रकाश जगमगा रहा था।

मैंने एक युवक से भीख माँगी। उस युवक ने धोती और हाफ कमीज पहन रखी थी। उसने अपने गले में हरे रंग का रूमाल डाल रखा था। बालों को इस तरह सँवार रखा था जिस प्रकार औरतें सँवारा करती हैं।

उसने मुझसे कहा, "तुम कौन हो ?···कहाँ से आई हो ?"

भूख की पीड़ा से आकुल मैंने तुरन्त कह दिया—"मकबरे के पास से, ···मैं बहुत भूखी हूँ।"

"पेट भरकर खाना खाओगी ?"

"हाँ।"—मैंने केवल गर्दन हिलाई।

"आओ मेरे साथ।"

वह मुझे दोतल्ले के एक कमरे में ले गया, जहाँ मेरी जैसी जवान छोकरी सोई पड़ी थी। उसने मुझे आराम से बिठाया और एक थाली में कुछ खाना परोसकर मेरे पास बैठ गया।

थोड़ी देर बाद एक बुढ़िया आई। उसने मुझे सहानुभूति का पाठ पढ़ाया। वह कहने लगी—"इस तरह इन गलियों में नहीं आना चाहिये ···आजकल कलयुग में शरीफ आदमी कहाँ हैं ?"

इस प्रकार का वह अपनेपन से भरा हुआ प्रवचन सुनाती रही।··· फिर मुझे उसी युवक के साथ एक ऐसी जगह भेज दिया वहाँ से जब मैं निकली तो एक रंडी बनकर।···मेरे पूजनीय राजाजी ! रंडी बनने की

शिक्षा मुझे उन मास्टरों से मिली जिन्होंने मेरी फूल-सी चमड़ी को उधेड़ डाला, इतना पीटा, ऐसे मुक्के लगाये कि मेरे नाक और मुँह से खून के फौव्वारे छूट पड़े। मेरी नस-नस में दर्द पैदा हो गया।

अब तुम्हीं बताओ अन्नदाता कि मैं क्या करती ?

मैंने रंडी बनना मंजूर कर लिया।

दिन पर दिन बीतते गये।

एक दिन एक गाहक आया जिसने शराब के नशे में मेरी नाक काट डाली, फिर क्या था ? लोगों ने मेरा रुपयों से मोल करना छोड़ दिया। क्योंकि मेरे राजा !···पैसे वाले माल जाँचकर पैसे देते हैं। कटा-छँटा माल अच्छे खरीददार नहीं खरीदते, क्यों ठीक है न ?

अच्छे कटरे से मैं निकाल दी गई।

इसके बाद मैं दो-दो और एक-एक रुपये के अड्डों में रही पर नाक कटी को तो कोई कोढ़ी ही चाहता।···इस पर मेरी जवानी भी ढल गई थी और मैं उस समाज से बहिष्कृत कर दी गई जिस समाज में हर नारी कोई चारा न मिलने पर आया करती है।

आज मैं उस सड़ान्ध से, बदबू देती हुई कोठड़ी से निकलकर सड़क पर इसलिये आई कि अपने भाग्य के सितारे को चमकाने वाले को दो शब्द तो लिखवादूँ ताकि वह भी जान जाये कि मेरा अन्त क्या हुआ ?

मुझे तुम जैसे नीच आदमी को खुद चिट्ठी लिखना स्वीकार नहीं है।

सड़क पर मुझे एक नवयुवक मिला। इस नवयुवक में अहम् की क्षणिक मात्रा भी नहीं थी। वह बड़ा दयालु और नेक था, वह अपने आपको लेखक कहता है। उसने मुझसे कहा कि मैं तुम्हारी उन कोठरियों में चलूँगा जहाँ तुम्हारे सुन्दर व विकृत यौवन के अन्तिम क्षणों को विभिन्न शैतानों ने खरीदा है।

मैं उस नवयुवक को यह समझाती हुई अपनी कोठरी में लाई कि यहाँ भले आदमियों को मुँह ढाँककर आना पड़ता है। नहीं तो लोग उन पर अँगुलियाँ उठाने लगते हैं, बदनाम कर देते हैं क्योंकि यह बदनाम मोहल्ला

है।'''यहाँ आने वालों से सभी घृणा करने लगते हैं पर वह दृढ़ रहा, निश्चल रहा, अविचल रहा। वह मेरे साथ आ ही गया।

वह लिखता ही जा रहा है।

और मैं बोलती जा रही हूँ।

राजाजी!

आज मैं पीड़ित हूँ। मेरी रग-रग में ऐसी पीर बसी हुई है जो एक थके बूढ़े यात्री के बदन में होती है। मेरी आँखों में भयानकता नाच उठी है। तुम्हारे प्रति घृणा का एक झंझा-सा उमड़ पड़ा है।'''क्योंकि तुम अत्याचारी हो, कमीने हो, चाहे तुम कितने ही धनवान और रैयत के राजा क्यों न हो? तुम्हारे अधरों पर जनता का सच्चा प्यार नहीं महक रहा है, बल्कि तुम्हारे जबड़ों में मेरा खून लगा हुआ है। जनता का खून लगा हुआ है!

मैं पीड़ित हूँ, तिरस्कृत हूँ, पर मैं तुमसे अब भी अच्छी हूँ क्योंकि मैं अत्याचारी नहीं हूँ।'''दुर्बलता का शिकार होना अपराध नहीं, पर शक्तिशाली होकर मानव-जीवन के पुष्पों को रौंदना, अपनी हविस को मटाने के लिये सुन्दर महलों को मिटा देना अपराध है।'

निःसन्देह मैं फूल हूँ जो तुम्हारे पाँव से कुचला गया हूँ। तुम्हारे फौलादी जूतों ने निर्दयता से रगड़कर चकनाचूर कर दिया।'''पर इससे क्या? मेरी यह सड़ांध निकलती हुई आवाज गरीबों की आहों के साथ आकाश की ओर उठ रही है।'''सन्तोष रखो मेरे राजा, आकाश में भयंकर विस्फोट होने वाला है जो तुम्हारा सर्वनाश कर देगा।

मेरे साथ दुनिया का सत्य है, धर्म है, शक्ति है क्योंकि मैं कुचला हुआ फूल हूँ, कुचलने वाला कदम नहीं।

बहुत लम्बा पत्र हो गया है राजाजी, पर इस पत्र के साथ मेरा दुख भी तुम्हें रोग की भाँति लग जायेगा क्योंकि आज से मैं अपना विकृत रूप लिये तुम्हारी कहानी जगह-जगह सुनाती फिरूँगी, घूम-घूमकर अपने दुख को सुनने वाले को तुम्हारी असलियत बताऊँगी। कहूँगी—मैं वह

सुन्दर प्रजा की बेटी हूँ जिसे अपने राजा ने इस दयनीय हालत में ला पटका है। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी कहानी सबको अच्छी लगेगी ? बस !'

पत्र समाप्त हो गया।

राजाजी आकुल-व्याकुल से हो उठे।

उन्होंने पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर इधर-उधर बिखरा दिये।

उनके चेहरे पर चिन्ता की रेखायें छा गईं।

तो भी उनकी आंखों के सामने लता का विकृत चेहरा घूमता हुआ अदृश्य नहीं हुआ।

प्रेतात्माओं की कोठरी

जनता में महाराजा मानसिंह के पुत्र-जन्म की खुशी में मंगल-उत्सव मनाये गये। जगह-जगह रोशनी की गई और राज्य द्वारा प्रजा में इस अपार प्रसन्नता के एवज में हजारों रुपये बांटे गये।

जनता एक बार फिर अपने महाराजा के पापों को भूल बैठी।

लेकिन इस उत्सव में महाराजा की अनुपस्थिति जनता को बहुत अखरी। महाराजा यकायक इस खुशी पर क्यों चले गये ? प्रजा इस रहस्य को नहीं जान सकी। पर अफवाह यह थी कि महाराजा श्री दिल्ली गये हुए हैं और दो माह के बाद लौटेंगे। अंग्रेजी हकूमत उन्हें कोई नया पद देने वाली है।

महाराजा ने धनसिंह को पश्चिमी कोने में एक मजबूत कोठरी बनाने के लिये लिखा और जब कोठरी बन गई तब महाराजा श्री लौटे।

रात को दो गुलामों को लेकर महाराजा ने उस कोठरी में एक

सिंहासन रखवाया और गुलामों को सख्त हिदायत दी कि इसका रहस्य किसी को भी मालूम न हो।

गुलामों ने मस्तक झुकाकर प्रतिज्ञा की पर महाराजा को अब किसी पर विश्वास नहीं रहा था। स्वयं महारानी सा द्वारा विश्वासघात करने के बाद महाराजा एकदम व्यक्तिवादी बन गये थे। वे विश्लेषण कर रहे थे कि आज का जाग्रत मानव अत्याचार की सीमा को भेद कर ज्ञान का दीपक संजो रहा है।

दूसरे ही दिन उन्होंने उन दोनों गुलामों को वहाँ से अन्य रियासत में भेज दिया और चंद पंडितों व ओझाओं को बुलाकर उन्हें उस कोठरी के आगे जप करने की आज्ञा दे दी।

सभी ने पूछा। महाराजा ने इतना ही उत्तर दिया कि इसमें प्रेतात्मायें हैं। इसे जो खोलेगा वह मर जायेगा। हाँ, पंडितों के मन्त्रों से वे प्रेतात्मायें बाहर नहीं निकलेंगी।

इसके बाद कभी किसी ने उस ओर जाने का कष्ट नहीं किया।

अब नहीं जीऊँगा

घड़ियाल ने जोर की आवाज दी। इस आवाज ने मानो मुझे कह दिया है कि तुमने अपने पाप को दुहरा कर अपने हृदय के बोझ को हल्का कर लिया है। प्रायश्चित कर लिया है। फिर यह दंड मेरे अपराधों के लिए बहुत कम है। मुझे तो दंड और मिलना चाहिए।

भोर का तारा आकाश में चमकने लगा है।

मेरी बेचैनी बढ़ती ही जा रही है।·········क्या करूँ और क्या न करूँ ?·········हृदय को शान्ति नहीं है, थोड़ी भी कल नहीं है।

गायत्री का बदनाम जीवन, उसके उपेक्षित और संकोच से गर्दन झुकाये बच्चे मेरी ओर टुकुर-टुकुर कर इस भाव से देख रहे हैं कि जैसे उनकी स्थिर-करुण आँखें कह रही हैं कि यदि आप हमारी माँ के साथ अनैतिक काम न करते तो हमें आज कोई भी हेय-दृष्टि से नहीं देखता।

रूपली का आवारापन क्या रजवाड़े की शान को चुनौती नहीं है! वह किस कद्र बेहयापन से अपने तन को विभिन्न गाहकों के हाथ बेचती है?

सुजान की दर्द-भरी चीखें, उसकी शेर द्वारा मार्मिक मौत!

फागा का विद्रोह क्या नया तूफान नहीं लायेगा?......यह हवा जो हिमालय की ऊँची-ऊँची श्रेणियों से हौले-हौले बहती हुई जब इस शहर में आती है तो फागा और अनेकानेक गुलामों की आहों से विद्रोहिणी हो जाती है।.........उसमें विद्रोह के कण मिश्रित होकर समस्त वाता-वरण में स्फुलिंग ज्वलित कर रहे हैं।

कितना अत्याचार किया था मैंने धनसिंह भड़ुवे के कहने पर उस निर्दोष स्वर्णलता पर!

मैं राजा हूँ और राजा होकर मैं सदा भोगलिप्सा में रत रहा। मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया बल्कि सदैव—"ईश्वरांशः स्वयं नृपः"—के विरुद्ध चलता रहा।

राजा सर्वदेवमय होता है। राजधानी सर्वतीर्थमय होनी चाहिये, वहाँ मेरा शहर पाप का खौलता हुआ नरककुंड बना हुआ था।

मैंने भी राज्य में जन-कल्याण के लिये कार्य किये पर वे मेरे दिखावे थे, प्रदर्शन मात्र थे।

आज मृत्यु मेरे सम्मुख है।

हृदय का रोग अपना आक्रमण करने को तैयार है।

डाक्टर बाहर खड़े हैं।

दीवान जी बाहर कह रहे हैं कि रानी सा नन्हे बच्चे को पाल रही

हैं। देखो राजपूती रक्त कितना ठंडा पड़ गया है कि वह अपने शत्रु को न मार सका।

ओह ! मेरे मस्तक पर पसीने की बूँदें मोतियों सी चमक उठती हैं। जीवन की यह कितनी घृणित विडम्बना थी ?...कितना भयानक अभिशाप है कि मेरे बाद मेरे पुरखों की पवित्र गद्दी पर एक वर्णसंकर बैठेगा। वह युवराज बनेगा ?

भोर का तारा मन्द पड़ने लगा है।

हृदय के घुटने के कारण मेरे मुँह से एक चीख निकल पड़ी है।

दरवाजा खुलता है।

डाक्टर आता है। डाक्टर घबरा जाता है। उसके साथ दीवान जी तथा मेरे अपने प्रियजन हैं।

डाक्टर इन्जेक्शन देता है। पर मैं जानता हूँ कि अब मुझे संसार की कोई शक्ति नहीं बचा सकती।

मृत्यु निश्चित है और यह भी निश्चित है कि मेरी मृत्यु के बाद किसी गुलाम का लड़का मेरी गद्दी पर बैठेगा।...ओह ! यह कैसा तूफान है ?

मुझे मृत्यु से भय है।

मृत्यु को सिर पर देखकर मेरे अन्तर का सुप्त मानव जाग उठा है, उस प्रकार जिस प्रकार कीचड़ में कमल उग आता है।

मेरे समक्ष महाप्रयाण का महापथ है।

यह पथ अत्यन्त विकट है, दुरूह है, टेढ़ा-मेढ़ा है।

शास्त्रों ने कहा है कि इसे पार करने के लिए परमात्मा का सम्बल चाहिए, उस परमात्मा का जिसने एक बार पुकारने पर नराधम अजामिल को मोक्ष का भागी बना दिया था।

डाक्टर मेरे उपचार में संलग्न है।

और मैं भगवान् की प्रार्थना में तल्लीन हूँ। मेरे अन्तर का तार-तार प्रार्थना कर रहा है—'हे प्रभु ! मैं अत्यन्त क्षुद्र प्राणी हूँ। मेरे पापों को

क्षमा करना, मेरे अपराधों को दृष्टि ओझल करना । मैं दीन हूँ, मैं हीन हूँ, मेरे प्रभु, मैं अनाथ हूँ ।

मेरी प्रार्थना से मेरा रोम-रोम पुलकित होकर एक आनन्दानुभूति का अनुभव करने लगा है । मेरे नयनों से अश्रु छलक पड़ते हैं ।

डाक्टर मेरे अश्रु पोंछता है ।

हृदय-पीर मुझे तड़पा रही है ।

मेरी शक्ति क्रमशः दुर्बल होती जा रही है । मैंने एक बार चाह-भरी दृष्टि से अपने अपराधों से अपवित्र कमरे को देखा ।

मेरे सामने वही दीवारें नाच उठीं जिन पर अजन्ता और एलोरा की अलौकिक शिल्प-कला का अप्रतिम रूप है ।……भगवान् बुद्ध की श्रद्धा-मयी प्राकृतिक-सौन्दर्य से परिपूर्ण मूर्ति है ।……वही प्रतिमा है, वही झाड़-फानूस है, वही फागा की चीत्कार है,…वही लता की चीख है । वही बेशमपारा—लाचार और बेहया जीवन !

मेरे अश्रु रुकते ही नहीं हैं । बहे ही जा रहे हैं । जैसे सावन के माह के काले बादल फूट पड़े हों ।

भोर का तारा डूब गया है ।

प्राची में पौ फट रही है और नया सूरज, जो खूब लाल-लाल है, निकल रहा है ।

मेरे अश्रु बह रहे हैं ।

सब दरबारी सिर झुकाये खड़े हैं ।

नये सूरज की किरणें अब संसार में नाचने लगी हैं । उन नाचती हुई किरणों का रंग कितना निराला जान पड़ता है ।

हे प्रभु, मुझे मुक्त करो !

आह ! मैं बिलकुल स्वस्थ हो गया । मुझमें अपार शक्ति का संच-रण हो उठा । सुनो डाक्टर, मुझे एकांत चाहिए, बिलकुल एकांत ! डाक्टर प्रसन्न होकर मुस्करा उठता है । उसे अपने इलाज पर गर्व हो उठता है ।

वह कहता है, "चलो, अब खतरा नहीं है।"

सब चले गये हैं।

मैं अकेला हूँ। उठता हूँ और दराज खोलकर एक पाण्डुलिपि निकालता हूँ। यह पाण्डुलिपि मेरे पापों का कच्चा चिट्ठा है। उस धर्मावतार महाराजा का वास्तविक रूप है जिसे पढ़कर जनता उस पर थूकेगी। इसका अन्तिम परिच्छेद लिखता हूँ—

मैं देख रहा हूँ कि कोई नहीं है। उठता हूँ और पीछे के दरवाजे से जाकर उस पाण्डुलिपि को कोठरी में बन्द करता हूँ।

मैं सोचता हूँ कि मुझमें ऐसा अदम्य साहस कैसे आ गया? ओह! बुझता दीया एक बार जोर से जलता है। बुझो मेरे दीये, अब सवेरा हो रहा है।

आह! डाक्टर, डाक्टर! पर डाक्टर कहां? वे सब तो महल के आगे खड़े हैं।

अच्छा ही हुआ। मैं···मैं···मैं अब जा रहा हूँ—अकेला।

सर्वशक्तिमान ईश्वर मुझे क्षमा करना। मैंने जो भी अपराध किया तेरी आज्ञा से ही किया क्योंकि संस्कार डालने वाला तू ही है। इसलिए, सृष्टि के जितने भी पाप और पुण्य हैं, वे सभी तेरी आज्ञा से होते हैं। प्रभु···प्रभु···!

यही मेरी कहानी है जो इस कोठरी में बन्द है।

पाण्डुलिपि का परिच्छेद यहीं समाप्त करता हूँ।

अब मैं इसे कोठरी में बन्द करूँगा क्योंकि मेरा दम फिर घुटने लगा है। मौत मेरे समीप आ रही है। इस बार मौत ही जीतेगी, सदा की तरह आकर जायेगी नहीं।*

---

* प्रथम अध्याय और अंतिम अध्याय पर किसी लेखक का प्रभाव है, मैं उसका कृतज्ञ हूँ।

मुझे याद आया

मुझे अच्छी तरह याद है कि मेरे पिता श्री महाराजा मानसिंह कमरे में से गायब हो गये थे। डाक्टर, सामंत, उमराव और मैं, सभी परेशान हो उठे। दौड़-धूप के बाद पता चला कि वे कोठरी के आगे पड़े हैं। हम सबने दौड़कर देखा—महाराजा कोठरी के आगे औंधे मुँह पड़े हैं। कोठरी बंद है। उसकी कुंजी भी उनके पास नहीं है। महाराजा मर चुके थे।

मुझे अर्थात् दीपसिंह को गद्दी पर बिठाया गया।

पर आज······

मैं गोले (दास) का पुत्र हूँ। मुझ में वह रक्त-गौरव नहीं है जो मेरे पूर्वजों में था, जो मेरी माँ में था। पर इससे क्या ?

वर्ष बीत गये हैं।

मेरी रियासत खत्म हो गई है। अब तो मैं नाम-मात्र का राजा हूँ। लेकिन यह···यह पाण्डुलिपि; हाँ, इसे मुझे जला देना चाहिए अन्यथा अंधविश्वासी जनता मेरे प्रति अपनी श्रद्धा त्याग देगी, मुझे आगामी चुनाव में वोट नहीं देगी। बेकारी से तो चुनाव लड़ना अच्छा है। प्रजा मुझे अब भी धर्मावतार अन्नदाता मानती ही है।

मैं चुनाव लड़ूँगा और जनता इस रहस्य से अनभिज्ञ है कि—मैं दास-पुत्र हूँ—मुझे वोट देगी, मैं जीतूँगा, ज़रूर जीतूँगा !

रात के बारह बजे हैं।

मैं पाण्डुलिपि का एक-एक पन्ना जला रहा हूँ। पन्ना क्या जल रहा है, मेरे खानदान के पाप जल रहे हैं। पर यह हवा, हाँ, यह हवा कहीं जनता को यह कहानी न कह दे।